PREAMBLE – CHAPTER NINE

Yog through King of Science (The Most Confidential Knowledge) (Raj gruh yog) ।।

In the two previous chapters, the Supreme Lord Shree Krishna declared that among all, bhakti is the highest, yet the simplest path of attaining Yog, or union with the Supreme. In this chapter, He reveals His supreme glories that inspire reverence, devotion, and awe. Although Shree Krishna stands in front of Arjun in His personal form, it should not be mistaken to possess human personality.

At the beginning of creation, the Supreme Lord creates innumerable life-forms with His material energy. And at dissolution, He absorbs them back into Himself, and in the next cycle of creation, He manifests them again. Similar to the mighty winds that blow everywhere yet always stay within the sky, all living beings' dwell within God. However, He remains ever aloof and detached from all these activities as a neutral observer by His divine Yogmaya power.

To resolve the apparent confusion of the Hindu pantheon, Shree Krishna explains that there is only one God, who is the sole object of worship. For all living beings, He is the true friend, the support, refuge, and the final goal. Therefore, those souls who engage in exclusive devotion towards the Supreme Lord go to His abode and remain there. Those influenced by the ritualistic ceremonies described in the Vedas also attain the celestial abodes. However, when their merits are exhausted, they must return to earth.

Saying this, Shree Krishna exalts the superiority of pure bhakti solely directed toward Him. Such a devotee lives in complete union with God's will, doing everything for Him and offering everything to Him. Their pure devotion helps devotees attain the mystic union with God and releases them from the bondage of Karmas.

Shree Krishna asserts that He is impartial towards all creatures; He neither favors nor rejects anyone. Even if despicable sinners come to His shelter, He accepts them willingly and very quickly makes them pure and virtuous. Shree Krishna then says that He is seated within His devotees and will not let them perish. He preserves what they possess and provides them what they lack. Hence, we should dedicate our mind and body to Him, worship Him, always think of Him, and make Him our supreme goal.

(Preamble Courtesy – The Songs of GOD – Swami Mukandananda)

।। प्रस्तावना - अध्याय - नवम राज ।। राजगुह्ययोग ।।

सातवें अध्याय के आरंभ में भगवान ने विज्ञान सहित ज्ञान का वर्णन करने की प्रतिज्ञा की थी, उस के अनुसार उस विषय का वर्णन करते हुए अंत मे ब्रह्म, कर्म, अधिभूत, अधिदेव और अधियज्ञ के सहित भगवान को जानने की एवम अंत काल मे भगवान के चिंतन की बात कही। इस पर आठवे अध्याय में अर्जुन ने उन तत्वों को और अंतकाल की उपासना के विषय को समझने के लिये सात प्रश्न कर दिए। उन में से छह प्रश्नों का उत्तर तो भगवान ने संक्षेप में तीसरे एवम चौथे श्लोक में दे दिया किन्तु सातवें प्रश्न के उत्तर में उन्होंने जिस उपदेश का आरंभ किया उस से सारा का सारा आठवां अध्याय पूरा हो गया। इस प्रकार सातवें अध्याय में प्रारम्भ किये हुए विज्ञान सहित ज्ञान का सांगोपांग वर्णन न होने के कारण उसी विषय को भली भांति समझाने के उद्देश्य से भगवान इस नवम अध्याय का प्रारम्भ करते है तथा सातवें अध्याय में वर्णित उपदेश के साथ इस का घनिष्ट सबन्ध दिखाने के लिये पहले श्लोक में पुनः उसी विज्ञान सहित ज्ञान का वर्णन करने की प्रतिज्ञा से इस अध्याय का प्रारम्भ करते है।

निर्गुणकार स्वरूप का अभ्यास एक जन मानस के लिये दुष्कर है। क्योंकि सब से परमात्मा के अव्यक्त भाव को जानना, फिर अक्षर ब्रह्म ॐ का ज्ञान होना एवम फिर समाधि लगा कर मन को नियंत्रित करना। अतः सदाहरण मनुष्य के लिये जो सरल सुलभ है उस अत्यंत गुह्य राज ज्ञान को नवम अध्याय से बारहवे अध्याय तक परमात्मा के व्यक्त स्वरूप प्रेमगम्य विस्तृत वर्णन पढेंगे, जिसे गीता का भक्ति मार्ग भी कहते है। यह मार्ग कर्मयोग का ही एक भाग है जिसे अनन्य भक्ति भाव से परमात्मा का स्मरण भी कह सकते है।

नवें अध्याय को राजगुह्ययोग कहा गया है, अर्थात् यह अध्यात्म विद्या विद्याराज्ञी है और यह गुह्य ज्ञान सब में श्रेष्ठ है। राजा शब्द का एक अर्थ मन भी था अतएव मन की दिव्य शक्तिमयों को किस प्रकार ब्रह्ममय बनाया जाय, इस की युक्ति ही राजविद्या है। इसे 34 श्लोक द्वारा वर्णित किया गया है। इस क्षेत्र में ब्रह्मतत्व का निरूपण ही प्रधान है, उसी से व्यक्त जगत का बारंबार निर्माण होता है। वेद का समस्त कर्मकांड यज्ञ, अमृत, और मृत्यु, संत और असंत, और जितने भी देवी देवता है, सब का पर्यवसान ब्रह्म में है। लोक में जो अनेक प्रकार की देवपूजा प्रचलित है, वह भी अपने अपने स्थान में ठीक है, समन्वय की यह दृष्टि भागवत आचार्यों को मान्य थी, वस्तुत: यह उनकी बड़ी शक्ति थी।

इस अघ्याय में संसार की रचना, प्रलय, भजन करने वालो के गुण एवम विधि, संसार की कार्य-कारण को भगवान का स्वरूप बतलाते हुए, किसी व्यक्ति को सम्पूर्ण क्रियाओं के कारण का यदि ज्ञान हो तो उसे समझना चाहिये कि वह अपने को कर्ता समझने की भूल करता है। गीता उन लोगो के उत्थान की घोषणा करती है, जो मानसिक एवम बौद्धिक स्थिति में उन्नत नही है, वह भी उसी ब्रह्मसन्ध होने का अधिकारी है, जो उच्च ज्ञानी को है, यह सामाजिक भेदभाव की भ्रमित नीति पर कुठाराघात है।

सरल और शांतिपूर्ण जीवन का आधार क्लेश का न होना है। बाहरी, आन्तरिक, शारीरिक, मानसिक एवम प्राकृतिक प्रवृति के क्लेश यदि न हो तो जीवन आनंदमय हो जाता है। क्लेश के ज्ञानयोग का मार्ग या समाधि सभी के लिये सम्भव नही, तो इस का सरल आधार भक्ति मार्ग है, जो श्रद्धा, विश्वास और समपर्ण के मार्ग से निकलता है। यह भक्ति एवम भक्त के गुणों को हम इस अध्याय में पढ़ेंगे।

ज्ञान और ब्रह्म की प्राप्ति में मन, बुद्धि और इंद्रियों पर पूर्ण नियंत्रण की आवश्यकता होती है। अतः जो श्रेष्ठ लोग जिन का इंद्रियों, मन और बुद्धि पर पूर्ण नियंत्रण होता है, वे वेद, उपनिषदों, पुराणों, गीता या अन्य शास्त्रों का अध्ययन करते है और श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा उस को आत्मसात भी करते है। इस के लिए आत्मशुद्धि या चित्त शुद्धि की आवश्यकता है। आत्म शुद्धि या चित्त शुद्धि के तीन प्रमुख मार्ग सन्यास, कर्म और भक्ति बताए गए है। चित्त शुद्धि के पश्चात ही ज्ञान का मार्ग है, जो सभी के लिए एक समान है। यह ज्ञान का मार्ग चित्तशुद्धि के बिना सांसारिक और व्यवसायिक है।

जिन लोगो का अपनी इंद्रियों, मन और बुद्धि पर पूरा नियंत्रण हो और जो लोग चिंतन, मनन और निदिध्यासन से नए नए विचारों और अनुसंधानों को खोजता है और समाज का दिशा निर्देश करता है, उसे ब्राह्मण अर्थात ब्रह्म वृति का व्यक्ति कह सकते है। किंतु जो व्यक्ति सांसारिक सुख को भोगते हुए, समाज और देश को नियमबद्ध नियंत्रण करने की क्षमता रखते है, जो शास्त्रों का अध्ययन कर के श्रवण और मनन तो कर सकते है किंतु निदिध्यासन नही कर सकते, उन की प्रवृति को क्षत्रिय मानी गई। इस प्रकार के व्यक्तियों के निष्काम और निर्लिप्त कर्मयोग का मार्ग बताया गया है।

तृतीय श्रेणी में वे लोग जो कर्म करते हुए धन कमाने में सक्षम होते है, जो शास्त्रों का श्रवण कर सकते है किंतु मनन या निदिध्यासन नही कर सकते, वे धर्म के नाम पर समाज के लिए कर्म करते है, ये वैश्य वृति के लोग हुए।

किंतु जिन के ज्ञान अर्थात अध्ययन कठिन कार्य है। यह श्रवण या मनन भी नही कर पाते, इन का इंद्रियों,मन और बुद्धि पर कोई नियंत्रण नहीं होता, तो इन के लिए बेहतर यही होता है कि यह लोग समाज ही सेवा करे जिस से इन पर तामसी वृति हावी न हो सके तथा ब्रह्म और क्षत्रिय वृति द्वारा बनाए नियमो का पालन करे। इन की वृति शुद्र वृति मानी गई।

तृतीय और चतुर्थ श्रेणी के प्राणियों को भी मोक्ष का अधिकार मिले, इसलिए इन के भक्ति का मार्ग है। भक्ति का अर्थ परमात्मा के प्रति पूर्ण श्रद्धा, विश्वास और प्रेम के साथ समर्पण जिस में कोई भी कामना या आसक्ति न हो। अतः जब समर्पण परमात्मा की ओर हो तो परमात्मा ऐसे लोगो का योगक्षेम का भार भी उठाता है और उन्हें ज्ञान भी प्राप्त करवाता है।

इसलिए ज्ञान को धारण करते समय यदि अपने को मोक्ष के ओर बढ़ना है तो यह ब्रह्म के लिए अर्जित ज्ञान है किंतु यदि अपना आध्यात्मिक ज्ञान देश के शासन या नियम को पालन कराने हेतु है तो इसे क्षत्रिय कहेंगे। यदि यह व्यवसाय के लिए हो तो वैश्य और इसी प्रकार किसी अन्य के लिए किया गया तो शुद्र ज्ञान होगा। एक ब्राह्मण भी यदि पूजा पाठ दक्षिणा के लिए करता है, तो उस का यह कार्य शुद्र वृति का ही होगा। अतः जब तक कामना और आसक्ति रहेगी, परमात्मा की उपासना भी सांसारिक रहेगी।

आज के समाज में अक्सर वैश्य या शुद्र वृति अधिक होने से लोग ज्ञान और आत्मशुद्धि को समझे बिना कोमल भावनाओं में बहते हुए रहते है। उन्हे अपने अज्ञान पर ही ज्ञानी होने का अहंकार रहता है। अक्सर इन्हे भ्रम भी रहता है कि ज्ञानी वही है जिस ने ब्रह्म के ज्ञान बाहरी आवरण धारण किया है जो शास्त्रों के उद्धरण व्यक्त कर सकता है। इसलिए आज समाज में दिशा ज्ञान देने वाले लोग जो आत्मशुद्ध नही भी है, अधिक है। यदि इन के समक्ष अधिक गहन विषय आ जाए तो ये अक्सर वहां से किनारा भी कर लेते है। भीड़ में महात्मा जी जब प्रवचन देते है तो मुश्किल से 5 - 10 % लोग ही ध्यान से सुनते होंगे। इसलिए आज भी गंभीर ज्ञान से युक्त अनेक ग्रंथ उपलब्ध होने के बावजूद, बहुत ही कम लोग उस का अध्ययन करते है। प्रस्तुत अध्याय से आगे के अध्याय गहन ज्ञान का विषय है, इसलिए इस को गंभीरता और मनन से अध्ययन की आवश्यकता है।

भगवद कृपा एवम भक्ति का आधार समर्पण है, जब हम अहम, कर्तृत्व एवम भोक्तत्व भाव का त्याग कर देते है तो हमारा सम्बन्ध प्रकृति से छूट कर परब्रह्म अर्थात अपने मूल स्वरूप से हो जाता है। जीव अपने मूल स्वरूप में ज्ञानी और योगी ही है, किंतु अज्ञान के कारण वह भ्रमित हो कर अपना सम्बन्ध प्रकृति से जोड़ लेता है। ज्ञान की प्राप्ति वास्तव में अज्ञान को

खत्म करना है। यह अज्ञान क्यों होता है और अज्ञान की अवस्था मे किस प्रकार हम अपने मूल स्वरूप को पहचाने, बिल्कुल वैसा ही है जैसे किसी को आप के ऊपर किन्ही कारणों से शक हो जाये तो उस की आप के प्रति मिथ्या धारणा को समाप्त करने के आप जो भी तर्क देंगे, वह उसे भी शक के दायरे में लेगा। कुंठित मन और बुद्धि द्वारा ग्रसित किसी के मन के शक को दूर करना, कठिन कार्य है। इसे वही दूर कर सकता है, जिस पर उस की श्रद्धा और विश्वास है। इसलिये परब्रहम के ज्ञान के जब तक प्रेम, श्रद्धा और विश्वास न हो, गीता अध्ययन अज्ञान के ज्ञान को विकसित करता है।

।। हरि ॐ तत सत ।। प्रस्तावना अध्याय 9 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.1॥

श्रीभगवानुवाच,
इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

"śrī-bhagavān uvāca,
idaṁ tu te guhyatamaṁ,
pravakṣyāmy anasūyave..।
jñānaṁ vijñāna- sahitaṁ,
yaj jñātvā mokṣyase 'śubhāt"..।।

भावार्थ:

श्री भगवान ने कहा - हे अर्जुन! अब मैं तुझ ईर्ष्या न करने वाले के लिये इस परम- गोपनीय ज्ञान को अनुभव सहित कहता हूँ, जिस को जान कर तू इस दुःख-रूपी संसार से मुक्त हो सकेगा। (१)

Meaning:

Shree Bhagavaan said:

However, to you who is without fault, I will teach this extremely secret knowledge along with wisdom, having known which, you will be liberated from the inauspicious.

Explanation:

Shri Krishna uses this chapter to progress the theme of the seventh chapter, which was the infinite nature of Ishvara and the finite nature of maaya. He begins the chapter by asserting that the knowledge of Ishvara's infinite nature will result in liberation. He addresses Arjuna as "anasooya" which means without fault, doubt or prejudice, indicating that those who have begun the process of purification of their minds through karma yoga and devoted meditation will understand this knowledge completely. Shree Krishna also declares Anasūyave means "non- envious." Anasūyave also has the sense of "one who does not scorn." Those listeners who deride Shree Krishna because they believe He is boasting will not benefit from hearing such a message. Rather, they will incur harm, by thinking, "Look at this egotistic person. He is praising His own Self."

Lord Krishna introduces the subject matter in the first three verses. He says the subject matter is going to be Īśvara jñānam; that is going to be the subject matter of the 9th chapter, and what type of Īśvara jñānam? Īśvara consisting of both His inferior nature as well as superior nature i.e. aparā prakṛti as well as parā prakṛti.

First, let us understand the result of knowledge that Shri Krishna is glorifying in this shloka. It is going to give us freedom or liberation from the inauspicious. The word inauspicious in this shloka refers to samsaara or the endless cycle of creation and dissolution that all of us are trapped in.

In the second chapter, Shree Krishna explained the knowledge of the ātmā (soul) as a separate and distinct entity from the body. That is guhya, or secret knowledge. In the seventh and eighth chapters, He explained knowledge of His powers, which is guhyatar, or more secret. And in the ninth and subsequent chapters, He will reveal knowledge of His pure bhakti, which is guhyatam, or the most secret.

Next, let us look at what makes this knowledge unique. Shri Krishna says that he is going to reveal not just "jnyaana" or knowledge, but also “vijnyana” or wisdom that we can internalize in our lives. Also, unlike other knowledge that requires action to give a result, this knowledge gives us the result of liberation all by itself. As an example, if we come to know that a mirage in a desert is false, we don’t have to do anything further.

What makes this knowledge even more special is that it is extremely subtle. It is hard for someone to figure out on their own. We need a competent teacher like Shri Krishna to reveal this knowledge to us, as well as a competent student who is ready and unprejudiced. Shri Krishna, urging us to learn this knowledge in the right way through a teacher, calls it secret knowledge. It also shows the level of trust that Arjuna built with Shri Krishna in order to qualify for this knowledge.

Shri Krishna further glorifies this special knowledge in the next shloka.

Footnotes:

1. Four things comprise ignorance or incorrect knowledge about our self. Doership, enjoyership, the notion of birth, death and rebirth, and the notion that the "I" in me has a different identity than the universe; all this is ignorance or avidya.

2. This ignorance is driven away by knowledge, which is the true nature of our self.

।। हिंदी समीक्षा ।।

भगवान इस अध्याय में राज विद्या और राजगुह्य योग को बताने के विषय को प्रारम्भ करते हुए कहा रहे है कि तुम असूयारहित हो। इसलिये मैं गुह्यतम उपासनात्मक ज्ञान को विज्ञान सहित कहूंगा। जिसे जान कर तुम अशुभ से मोक्ष प्राप्त कर लोगे। जो ब्रह्मज्ञान आगे कहा जायगा और जो कि पूर्व के अध्यायों में भी कहा जा चुका है। यही यथार्थ ज्ञान साक्षात् मोक्षप्राप्ति का साधन है। जो कि सब कुछ वासुदेव ही है आत्मा ही यह समस्त

जगत् है ब्रह्म अद्वितीय एक ही है इत्यादि श्रुति स्मृतियों से दिखलाया गया है। इस के अतिरिक्त और कोई मोक्ष का साधन नहीं है। जो इस से विपरीत जानते हैं वे अपने से भिन्न अपना स्वामी माननेवाले मनुष्य विनाशशील लोकों को प्राप्त होते हैं ।

गुणवानों के गुण को नही मानना, उन के गुणों में दोष देखना, उन की निंदा करना एवम गुणवान पर मिथ्या दोषों का आरोप लगाना ही "असूया" है। जिन में यह स्वभाव न हो उन्हें अनसूयु कहते है। आयु, वित्त, घर की बुराई, मंत्र, मैथुन, दवा, तपस्या, दान एवम अपमान यह नौ बाते ऐसी है जिन्हें किसी भी व्यक्ति को अन्य सभी के समक्ष कभी नही बोलना चाहिये जब तक की सामने वाला उस को ग्रहण करने योग्य न हो।

यह अत्यन्त गोपनीय तत्त्व हरेक के सामने नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इस में भगवान् ने खुद अपनी महिमा का वर्णन किया है। जिस के अन्तःकरण में भगवान् के प्रति थोड़ी भी दोषदृष्टि है, उस को ऐसी गोपनीय बात कही जाय, तो वह 'भगवान् आत्मश्लाघी हैं --अपनी प्रशंसा करनेवाले हैं' ऐसा उलटा अर्थ ले सकता है। इसी बात को लेकर भगवान् अर्जुनके लिये 'अनसूयवे' विशेषण देकर कहते हैं कि भैया ! तू दोष-दृष्टिरहित है, इसलिये मैं तेरे सामने अत्यन्त गोपनीय बात को फिर अच्छी तरह से कहूँगा अर्थात् उस तत्त्व को भी कहूँगा और उस के उपायों को भी कहूँगा ।

ऐसी मनोवृति अज्ञान और घमंड के कारण उत्पन्न होती है और इससे मनुष्य की श्रद्धा भक्ति समाप्त हो जाती है। ईर्ष्यालु लोग इस अटल सत्य को ग्रहण नहीं कर सकते कि भगवान को अपने लिए कुछ प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं होती और इसलिए वे अकारण जीवात्मा के कल्याण के लिए ही सब कुछ करते हैं। वे जीवात्मा में अपनी भक्ति बढ़ाने के प्रयोजनार्थ अपनी प्रशंसा करते हैं न कि सांसारिक अहंभाव के दोष के कारण जैसा कि हम करते हैं। जब नाज़रेथ के यीशू मसीह ने कहा-"मैं ही मार्ग और मैं ही लक्ष्य हूँ" तब वे उनके उपदेश सुन रही जीवात्माओं को करुणा भाव से प्रेरित होकर ऐसा कह रहे थे न कि अहं भाव से। एक सच्चे गुरु के रूप में वे अपने शिष्यों को समझा रहे थे कि भगवान का मार्ग गुरु के माध्यम से मिलता है किन्तु ईर्ष्यालु मनोवृत्ति के लोग इन उपदेशों के पीछे छिपी करुणा को नहीं समझ सकते और उन पर आत्म-दंभी होने का दोषारोपण करते हैं। क्योंकि अर्जुन उदारचित्त है और ईर्ष्या के दोष से मुक्त है इसलिए वह गुह्यत्तम ज्ञान को जानने का पात्र है जिसे भगवान श्रीकृष्ण इस अध्याय में प्रकट कर रहे हैं।

'प्रवक्ष्यामि' पदका दूसरा भाव है कि मैं उस बात को विलक्षण रीति से और साफ-साफ कहूँगा अर्थात् मात्र मनुष्य मेरे शरण होनेके अधिकारी हैं। चाहे कोई दुराचारी- से- दुराचारी, पापी से पापी क्यों न हो तथा किसी वर्ण का, किसी आश्रम का, किसी सम्प्रदाय का, किसी देश का, किसी वेश का, कोई भी क्यों न हो, वह भी मेरे शरण होकर मेरी प्राप्ति कर लेता है- यह बात मैं विशेषता से कहूँगा।

अभी तक जो भी ज्ञान एवम योग का मार्ग बताया गया उस के पालन में सदाहरण मनुष्य को कठनाई हो सकती है। इस लिये परमेश्वर अपने व्यक्त स्वरूप का सरल ज्ञान का राज मार्ग बताते है जिसे भक्ति मार्ग भी कह सकते है। यह ज्ञान विज्ञान सहित ही बताया गया है क्योंकि बिना उपासना सम्बन्धी ज्ञान को उपासनात्मक ज्ञान की सफलता असम्भव है। यहां भगवान सगुणाकार का वर्णन करने वाले है। भगवान पुरुषोत्तम के तत्व, प्रेम, गुण, प्रभाव, विभूति और महत्व आदि के साथ उन की शरणागति का स्वरूप सब से बढ़ कर गुप्त रखने योग्य है।

वे अनसूयु अर्जुन को विज्ञान के सहित ज्ञान का अर्थात् सैद्धान्तिक ज्ञान तथा उसके अनुभव का उपदेश देंगे। ज्ञान और विज्ञान में अंतर अनुभव एवम प्रमाण का है। जो बात किसी भी व्यक्ति को निश्चित क्रिया द्वारा प्रमाणित की जा सके, वह विज्ञान है क्योंकि वह प्रत्यक्ष है। किंतु जिसे केवल अपने स्वयं के प्रयास एवम अनुभव किया जा सके, वह ज्ञान है। अतः विज्ञान का अर्थ उपासना की वह विधि या प्रक्रिया है जिस के करने से ज्ञान मिलता है और मोक्ष का मार्ग मिलता है। कार को चलाने की एक प्रक्रिया है, जिस का पालन करने से ही आप सवारी का आनन्द ले सकते है और गंतव्य स्थान पर पहुंच सकते है। यह प्रक्रिया में जो दक्षता लगती है और रास्ते की जानकारी लगती है, वही विज्ञान है। कार से यात्रा कर के गंतव्य स्थान पर पहुचा जा सकता है, यह ज्ञान है।

प्रकृति के परवश हुए सम्पूर्ण प्राणी महाप्रलय में मेरी प्रकृति को प्राप्त हो जाते हैं और महासर्ग के आदि में मैं फिर उन की रचना करता हूँ। परन्तु वे कर्म मेरे को बाँधते नहीं। उन में मैं उदासीन की तरह अनासक्त रहता हूँ। मेरी अध्यक्षता में प्रकृति सम्पूर्ण प्राणियों की रचना करती है। मेरे परम भाव को न जानते हुए मूढ़लोग मेरी अवहेलना करते हैं। राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृतिका आश्रय लेनेवालों की आशा, कर्म, ज्ञान सब व्यर्थ हैं। महात्मा लोग दैवी प्रकृति का आश्रय ले कर और मेरे को सम्पूर्ण प्राणियों का आदि मानकर मेरा भजन करते हैं। मेरे को नमस्कार करते हैं। कई ज्ञानयज्ञ के द्वारा एकीभाव से मेरी उपासना

करते हैं; आदि- आदि, ऐसा कहकर भगवान् ने 'ज्ञान' बताया। मैं ही क्रतु, यज्ञ, स्वधा, औषध आदि हूँ और सत् असत् भी मैं ही हूँ अर्थात् कार्य- कारण रूप से जो कुछ है, वह सब मैं ही हूँ । ऐसा कहकर 'विज्ञान' बताया। अध्याय सात में ज्ञान- विज्ञान में परा एवम अपरा प्रकृति को पढ़ा था। परा प्रकृति अव्यक्त एवम अपरा प्रकृति व्यक्त और अव्यक्त दोनो स्वरुप में परब्रह्म द्वारा प्रकृति स्वरूप की रचना है। इसलिये भी ज्ञान को विज्ञान सहित बताने का आशय हम निर्गुण से सगुण और सगुण से निर्गुण का ज्ञान भी है।

जीवन की चुनौतियों का सामना करने में मनुष्य की अक्षमता का कारण यह है कि वह वस्तु और व्यक्ति अर्थात् जगत् का त्रुटिपूर्ण मूल्यांकन करता है। फलत जीवनसंगीत के सुर और लय को वह खो देता है। अपने तथा बाह्य जगत् के वास्तविक स्वरूप को समझने का अर्थ है जगत् के साथ स्वस्थ एवं सुखवर्धक संबंध रखने के रहस्य को जानना। जो पुरुष इस प्रकार समष्टि के साथ एकरूपता पाने में सक्षम है? वही जीवन में निश्चित सफलता और पूर्ण विजय का भागीदार होता है।आन्तरिक विघटन के कारण अपने समय का वीर योद्धा अर्जुन एक विक्षिप्त पुरुष के समान व्यवहार करने लगा था। ऐसे पुरुष को जीवन की समस्यायें अत्यन्त गम्भीर एवम कर्तव्य महत् कष्टप्रद और स्वयं जीवन एक बहुत बड़ा भार प्रतीत होने लगता है। वे सभी लोग संसारी कहलाते हैं जो जीवन इंजिन को अपने ऊपर से चलने देकर छिन्नभिन्न हो जाते हैं। इनके विपरीत जो पुरुष इस जीवन इंजिन में चालक के स्थान पर बैठ कर मार्ग के सभी गन्तव्यों को पार करके अपने गन्तव्य तक सुरक्षित पहुँचते हैं वे आत्मज्ञानी और सन्त ऋषि कहलाते हैं। यद्यपि आत्मज्ञानी का यह पद मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है तथापि इस धरोहर का लाभ केवल वह विवेकी पुरुष पाता है जिसमें अपने जीवन पर विजय पाने का उत्साह और साहस होता है और जो इस पृथ्वी पर ईश्वर के समान रहता है सभी परिस्थितियों का शासक बनकर और जीवन की दुर्भाग्यपूर्ण स्थितियों में हँसता रहता है।

व्यवहारिक जीवन मे बुद्धि की कमी, अहंकार, दुसरो की बात न सुनना और अपनी ही हाँकना, दुसरो के प्रति अनादर का भाव, विषयो में आसक्ति और आलस्य आदि ऐसे दुर्गुण है जिस के कारण व्यक्ति उच्च स्तर के ज्ञान से वंचित रह जाता है, वह ज्ञान लेने या देने के योग्य भी नही है। इसलिये इस अध्याय से पूर्व ही भगवान का कथन है कि जो व्यक्ति गीता के उपदेश सुनने या मानने को तैयार नही है, उस को इस के ज्ञान को देना भी नही चाहिए। कुरुक्षेत्र में अर्जुन को ही यह ज्ञान दिया था, जिसे संजय के माध्यम से धृतराष्ट्र ने भी सुना। किंतु मन की मलीनता, पुत्रमोह, लोभ और कृष्ण के प्रति द्वेष भाव के रहते, उसे

ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकी, इसलिए ज्ञान की प्राप्ति के गुरु या ज्ञान देने वाले के प्रति श्रद्धा, विश्वास, प्रेम के साथ भक्ति भाव और योग्यता अर्थात निष्काम, निरासक्त और एकाग्रता आदि यदि न हो तो ज्ञान प्राप्त नहीं होता।

अब आगे के श्लोक में इस विज्ञान सहित ज्ञान की महिमा का वर्णन पढ़ते हैं।

।। हरि ॐ तत सत।।9.01।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.2॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥

"rāja- vidyā rāja- guhyaṁ,
pavitram idam uttamam..।
pratyakṣāvagamaṁ dharmyaṁ,
su-sukhaṁ kartum avyayam"..।।

भावार्थ:

यह ज्ञान सभी विद्याओं का राजा, सभी गोपनीयों से भी अति गोपनीय, परम-पवित्र, परम-श्रेष्ठ है, यह ज्ञान धर्म के अनुसार सुख-पूर्वक कर्तव्य-कर्म के द्वारा अविनाशी परमात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव कराने वाला है। (२)

Meaning:

This is royal knowledge, the royal secret, purifying, foremost, immediately perceived, righteous, effortless to perform, and imperishable.

Explanation:

Shri Krishna continues to glorify the theme of this chapter, which is the knowledge of Ishvara’s infinite nature. This shloka consists of a series of adjectives that highlight the extremely unique and special nature of the knowledge that he is about to reveal.

Rāja means “king.” Shree Krishna uses the metaphor rāja to emphasize the paramount position of the knowledge He is going to reveal. He begins by describing this knowledge as royal.

As we saw in an earlier chapter, most knowledge we acquire in our life is “aparaa vidyaa”. It is related to something material and temporary. This chapter describes “paraa vidyaa”, knowledge of the absolute. Knowing this, we will ourselves become kings. We will never become subservient to anyone or anything, including our mind, body and senses. Vidyā also means “science.” He does not refer to His teachings as creed, religion, dogma, doctrine, or belief. He declares that what He is going to describe to Arjun is the king of sciences.

Guhya means “secret.” This knowledge is also the supreme secret. Since love is only possible where there is a choice, God deliberately hides Himself from direct perception, thereby providing the soul the freedom to exercise the choice of loving Him or not. This knowledge is the king of secrets. Ordinary secrets can give us happiness, wealth, power, a competitive advantage and so on, all of which are temporary and limited. But these secret yields eternal, infinite happiness.

Many scriptures describe rituals that act as purifiers that help us eliminate our sins. But this knowledge is the ultimate purifier because it eliminates the sinner, the root cause. As we have seen earlier, our ego creates the sense of doership and enjoyership, resulting in accumulation of merits and sins. But if our sense of doership is eliminated, all of our actions will be spontaneous and in tune with Ishvara’s will. The storehouse of our sins will be burnt away. Plus, there will be no question of accumulating any more merits or sins.

Shri Krishna says that we will be able to immediately perceive or experience this knowledge. What does this mean? When we are a little hungry, we say

“I think I am hungry”. But if we have not eaten for a while day, we automatically say “I am hungry” without any further thinking. This is what is meant by immediate and direct perception. There will be zero doubt in this knowledge.

This knowledge is aligned with dharma, the law that holds the universe together. Nowadays, many practices in the business world that were formerly legal are deemed illegal and vice versa. This happens because they are based on ever- changing laws. But this royal knowledge is in accordance with the universal law. It holds true at any point in time, anywhere in the world. Moreover, it will always result in joy, never in sorrow.

Pratyakṣha means “directly perceptible.” The practice of the science of bhakti begins with a leap of faith and results in direct perception of God. It is not unlike the methodology of other sciences, where we begin an experiment with a hypothesis and conclude with a verified result.

Dharmyam means “virtuous.” Devotion performed without desire for material rewards is the most virtuous action. It is continuously nourished by righteous acts such as service to the Guru.

Kartum susukham means “very easy to practice.” God does not need anything from us; He is attained very naturally if we can learn to love Him.

Finally, this knowledge is easy to assimilate, it does not require any special attributes in the person other than dedication and faith. While most things that take little effort yield temporary results, this knowledge results in permanent, eternal happiness.

Having provided a detailed description of the characteristics of this royal knowledge, Shri Krishna describes the fate of people who do not follow this teaching.

।। हिंदी समीक्षा ।।

भगवान श्री कृष्ण जिस ज्ञान को बताने वाले है उस की तीन विशेषता बताते है। 1) यह राज विद्या है 2) राजगुह्य है 3) यह अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, पूर्व के समस्त फलों को नष्ट करने वाला, सांसारिक दुखो से मुक्ति देनेवाला, सुगम एवम अविनाशी है। इस के पश्चात किस प्रकार के मनुष्य द्वारा यह सरलता से प्राप्त किया जा सकता है, इस के लिए उस मनुष्य के गुणों को बतलाया है।

पूर्व में मोक्ष की प्राप्ति का ज्ञान मार्ग अर्थात सन्यास मार्ग ही उपलब्ध था। जो अत्यंत कठिन एवम प्रत्येक मनुष्य के लिये प्राप्त करना दुष्कर था।

ईश्वर प्राप्ति के साधनों को उपनिषदों में विद्या कहा गया है। यह हमेशा ही गुप्त रखी जाती थी। इक्ष्वाकु प्रभृति राजाओं की परंपरा से ही इस योग का प्रचार हुआ था, इसलिये इस विद्या के मार्ग को राजाओं या बड़े लोगो की विद्या अर्थात राजविद्या कहा गया। जिस को जान कर और कुछ जानना शेष नही रहता अर्थात जिस को जानने के बाद अज्ञात भी अज्ञात नही रहता, ऐसी अतिशय प्रकाश युक्त होनेवाले ब्रह्मज्ञान को राजविद्या कहा गया है। क्योंकि यह विद्या अब तक ली गई समस्त विद्याओं से श्रेष्ठ है, इसलिए इस सभी विद्याओं का राजा अर्थात राजविद्या कहा गया है।

अन्य अर्थ में विद्या के दो प्रकार है, प्रथम सांसारिक विद्या जो जीव के इस संसार मे रहने एवम धन एवम ऐश्वर्य कमाने के लिये है। इस विद्या में शस्त्र विद्या या आज के युग मे स्कूल, कॉलेज आदि के पढ़ाई जाने वाली विद्या है। यह जीव के साथ ही वृद्धा अवस्था मे क्षीण भी हो जाती है। इस को अपरा प्रकृति की विद्या भी कहा गया है।

दूसरी विद्या व्यक्तीत्व के विकास के लिए होती है जिस में जीव अपने को परमात्मा से जोड़ने का प्रयत्न करता है। इस को परा प्रकृति की विद्या भी कहते है। यह विद्या जिस के पास आये, उसे उठा के ब्रह्म पथ पर चलाते हुए मोक्ष को प्रदान करे जहां पुनरवर्तन न हो। किन्तु इस विद्या में यदि रास्ते मे जीव ऋद्धियो या सिद्धियों या फिर अहम एवम कामना में उलझ गया तो यह विद्या ही उस के लिये अविद्या सिद्ध हो जाती है और जीव का पतन हो जाता है। यह आज के युग में परा प्रकृति की विद्या को सीखने वालो में अहम एवम कामना का योग होने से अविद्या ही ज्यादा मिलती है।

इसी विद्या में जिस गोपनीय ज्ञान को भगवान श्री कृष्ण देने वाले है जिस से किसी भी किस्म का अहित नही होता एवम इधर करो- उधर लो जैसी सरल, सुगम्य, पवित्र, उत्तम, धर्मयुक्त एवम प्रयत्क्ष फल देनेवाली विद्या को समस्त विद्याओं में श्रेष्ठ होने से राज

विद्या कहते है। यह विद्या अक्षर या अव्यक्त ब्रहम को लक्ष्य न करते हुए भक्ति मार्ग द्वारा परम गति को प्राप्ति के लिये है। यह विद्या समस्त विद्याओं में श्रेष्ठ है अतः राज विद्या है। यह परमात्मा के व्यक्त रूप में है अतः इस विद्या में परमात्मा के दर्शन भी संभव है। अनेक सहस्र जन्मों में इकट्ठे हुए पुण्य पापादि कर्मों को क्षणमात्र में मूलसहित भस्म कर देता है एवम किसी भी प्रकार के विरोध से मुक्त होने से पूर्णतयः धर्मयुक्त है। धर्मयुक्त का आशय वैदिक शास्त्रो एवम उपनिषद से प्राप्त है। वेद अर्थात परमात्मा की वाणी माने जाने वाले ग्रन्थ, जो परब्रहम के प्रमाणिक अनुभव का आधार है, अतः अत्यंत गोपनीय एवम श्रेष्ठ होने के अतिरिक्त यह वेदों से प्रामाणिक है, इसलिये शाश्वत और नष्ट नही होने वाला ज्ञान है।

ज्ञान और विज्ञान में इस विद्या को विज्ञान कहा गया है। विज्ञान का अर्थ है, प्रमाणित। जिस विद्या करने के लिए कोई संप्रदाय, जाति, धर्म, उम्र या सिद्धांत या कार्यविधि की आवश्यकता नहीं होती, जिस में शुद्ध और सात्विक ह्रदय, श्रद्धा, प्रेम और विश्वास चाहिए, जो विद्या समर्पण और स्मरण पर आधारित है, जिस को जानने के बाद कुछ भी जानना शेष नहीं रहता, वह ही विज्ञान है।

यह माना गया है कि भारतवर्ष में जो ज्ञान वेदों को प्रामाणिक नही मानता, वह नास्तिक ज्ञान है। इस का उदाहरण बौद्ध धर्म का ज्ञान है, जिस में बुद्ध ने वेद को नकार दिया था, जिस के कारण यह भारतवर्ष में नही फैल सका। यही कारण है कि पूर्व के अध्यायों (चतुर्थ अध्याय) में भगवान श्री कृष्ण ने स्पष्ट किया कि जो भी वे कहते है, वह उन का मौलिक ज्ञान नही है वरन उन्हे भी परंपरागत ही प्राप्त है।

इस विद्या को राजगुह्य भी कहा गया है। गुह्य का अर्थ हमे अपने अनुभव से प्राप्त करना है। उदाहरण के तौर पर गुड़ का स्वाद गूंगे द्वार वर्णित नही किया जा सकता है अथवा अंधे को आप रंग का वर्णन नहीं कर सकते, वैसे ही इस मार्ग पर चलने वाला इस विद्या को वर्णित नही कर सकता। जिस के लिये यह समस्त विद्या का ज्ञान किया जाता है मात्र वो परम परमेश्वर ही इस विद्या को बता सकता है, इसलिये भगवान श्री कृष्ण जो स्वयं में परमात्मा ही है इस अत्यंत राजगुह्य विद्या को वर्णित करने की बात कह रहे है। यह ज्ञान इंद्रियाओ द्वारा प्रयत्क्ष नही हो सकता, यह महान, पवित्र उत्तम ज्ञान है जिस की प्राप्ति से अंधकार से प्रकाश की प्राप्ति हो जाती है और जीव साक्षात शिव रूप हो जाता है। अतः इस ज्ञान को अविनाशी और पवित्र ज्ञान कहा गया है।

इस ज्ञान को अविनाशी भी कहा गया है, जीव की मृत्यु के बाद भी पुनः जन्म में पूर्व जन्म का यह ज्ञान उस के साथ रहता है और उस को मुक्ति के मार्ग तक ले कर ही जाता है। अविस्मर्णीय एवम अव्यय भी है। इस के नियम भी अत्यंत सरल है क्योंकि भक्ति तो उठते, बैठते, सोते, जागते, खाते या कभी भी, कहीं भी कर सकते है।

क्योंकि यह ज्ञान सुगम, स्थायी एवम प्रयत्क्ष फल देने वाला है तो इस का पात्र भी अनसुयु होना चाहिये। अनसुयु शब्द को कल हम पढ़ चुके है यानि दोष रहित । भगवान अर्जुन को अनसुयु कहते है क्योंकि वो उन के समक्ष अपनी समस्त कमजोरियों को बिना झिझक के बता रहे है एवम उन के उपदेश को श्रद्धा पूर्वक सुन रहे है। अतः गीता में यह भी कहा गया है कि यह राजविद्या किसी भी अपात्र को नही दी जा सकती।

शब्द एवम अभिव्यक्ति दोनों में अंतर ह्रदय की भावना का है। अभिव्यक्ति ह्रदय से निकलती है एवम उसी व्यक्ति द्वारा ग्रहण की जा सकती है जो सरल, भावुक, ज्ञानवान एवम पवित्र हो। अन्यथा अभिव्यक्ति मात्र शब्द बन कर रह जाती है। अतः यह ज्ञान सरल ह्रदय वाले व्यक्ति के लिए सुगम, बिना किसी विशिष्ट कर्म काण्ड या विधि के और प्रत्यक्ष प्रमाणित है।

किसी को ज्ञान को प्राप्त करने या गीता को समझने के लिये यह गुण होना आवश्यक है। जिस में श्रद्धा,विश्वास एवम समपर्ण नहीं है वो इस ज्ञान का पात्र भी नही है। दोष दृष्टि रखने वाला अश्रद्धालु मनुष्य इस का पात्र नही हो सकता जिस के विषय मे अगले श्लोक में पढ़ेगे।

।। हरि ॐ तत सत।। 9.02।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.3॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

'aśraddadhānāḥ puruṣā,
dharmasyāsya parantapa..।
aprāpya māṁ nivartante,
mṛtyu-saṁsāra-vartmani"..।।

भावार्थ:

हे परन्तप! इस धर्म के प्रति श्रद्धा न रखने वाले मनुष्य मुझे न प्राप्त होकर, जन्म-मृत्यु रूपी मार्ग से इस संसार में आते-जाते रहते हैं। (३)

Meaning:

People who do not have faith in this prescription, O scorcher of foes, do not attain me. They return to the path of the mortal world.

Explanation:

Like any good teacher, Shri Krishna first glorifies the knowledge that he is about to teach, then points out the qualifications of the worthy student. Addressing Arjuna as the "scorcher of foes", he says that they key qualification required to receive this teaching is that of faith. If we do not have faith, we continue following our old ways, only to be trapped in this endless cycle of creation and dissolution.

Krishna says that in spite of all the glorification that I have done, and also all the glorification of this wisdom obtaining in the scriptures themselves; unfortunately, many people do not resort to this Īśvara jñānam. Even though it is greatest; and even though it is freely available, in most of the places, in many ashramas; many institutions it is given free. Krishna says this is the greatest wisdom and easily available; and gives highest joy and security; but still many people do not vote for this; because, they are not able to trust this as something is so cheaply given to them. Many people do not have śraddhaḥ in the efficacy of this teaching.

Why is there so much importance placed in faith? Without faith, we will not have the inclination to fully understand any teaching. Even in school or college, we will not take the extra effort to inquire, ask questions, read books and resolve our doubts unless we have faith in the subject and the teacher. It is even more important in this kind of knowledge.

So then, what happens to those that do not have faith? Shri Krishna says that such people do not attain Ishvara. They have faith in their sense organs and their corresponding sense pleasures. These people still think that feeding their senses with more food, entertainment as well as bodily and intellectual comforts will result in long-lasting happiness. This misplaced faith further ensnares them in the path of the mortal world, which that of birth, old age, disease and death, over and over again.

Belief in God is not a natural process that we as human beings just follow. We have to exercise our free will and actively make a decision to have faith in God. In the assembly of the Kauravas, when Dushasan endeavored to disrobe Draupadi, Lord Krishna saved her from shame and embarrassment by lengthening her sari. All the Kauravas present saw this miracle, but refused to have faith in the omnipotence of Shree Krishna and come to their senses. The Supreme Lord says in this verse that those who choose not to have faith in the spiritual path remain bereft of divine wisdom and continue rotating in the cycle of life and death.

Having sufficiently introduced the chapter, Shri Krishna delivers the main message of this chapter in the following two shlokas.

।। हिंदी समीक्षा ।।

धर्म दो तरह का होता है -- स्वधर्म और परधर्म। मनुष्य का जो अपना स्वतःसिद्ध स्वरूप है, वह उस के लिये स्वधर्म है और प्रकृति तथा प्रकृति का कार्यमात्र उस के लिये परधर्म है । यही जीव और प्रकृति का संबंधों का अज्ञान है कि जीव अपने ब्रह्म के अंश स्वरूप को भूल कर प्रकृति से प्रदत्त भौतिक और सूक्ष्म शरीर को ही अपना स्वरूप मानता है। यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि मनुष्य अपने शरीर को, कुटुम्ब को, धन सम्पत्ति वैभव को निःसन्देह रूप से उत्पत्ति विनाशशील और प्रतिक्षण परिवर्तनशील जानते हुए भी उन पर विश्वास करते हैं। श्रद्धा करते हैं। उन का आश्रय लेते हैं। श्रद्धा तो स्वधर्म पर होनी चाहिये थी, पर वह हो गयी परधर्म पर। परधर्म पर श्रद्धा रखने वालों के लिये भगवान् कहते हैं कि सब देश में, सब काल में, सम्पूर्ण वस्तुओं में, सम्पूर्ण व्यक्तियों में सदासर्वदा विद्यमान, सबको

नित्यप्राप्त मुझे प्राप्त न करके मनुष्य मृत्यु रूप संसार के रास्ते में लौटते रहते हैं। वास्तव में ज्ञानेंद्रियां ज्ञाता है और कर्मेंद्रियां कर्म, इन दोनों को मनोभाव के अनुसार अनुभव करनेवाला मन ही भोक्ता हुआ। इस मन के स्वामी के नाते जीवात्मा अपने को भोक्ता मान कर सुख-दुख को महसूस करती है और जिस के साथ जुड़ना चाहिए, उसे भूल गई है।

भगवान के स्वरूप, प्रभाव, गुण और महत्व को , उन की प्राप्ति के उपाय को और उस के फल को सत्य न मान कर उस मे असंभावना और विपरीत भावना करना और उसे केवल रोचक उक्ति समझना आदि जो विश्वास विरोधिनी भावनाएं है, वे ही अश्रद्धा के भाव है।

भगवान श्री कृष्ण कहते है कि जो मार्ग अत्यंत सरल, मोक्ष देने वाला, ज्ञान में सब से उच्चतम स्तर का है, विश्वनीय और प्रत्यक्ष हो, उस पर श्रद्धा, विश्वास और समर्पण नही रखते हुए, जीव प्राकृतिक सुख के पीछे भागता रहता है। जब कि यह अमूल्य ज्ञान उसे बिना किसी दाम के उपलब्ध है तो भी वह उन संस्थाओं, आश्रमों और कर्म कांडो पर ज्यादा विश्वास रखता है, जहां उसे कर्म काण्ड अर्थात पूजा, व्रत, उपवास, यज्ञ और प्रवचन से विश्वास दिलाया जाता है कि वह कुछ ऐसा करे जिस से उस के सांसारिक और परासांसारिक सुख की प्राप्ति होगी अर्थात वह जन्म - मरण के दुखालय में ही रहना चाहता है।

जो वस्तु मन- इन्द्रिय अगोचर है उस मे प्रथम श्रद्धा बिना प्रवृति ही नही हो सकती, प्रवृति बिना पुरुषार्थ नही हो सकता और फिर पुरुषार्थ बिना प्राप्ति तो हो ही नही सकती।

इस आत्मज्ञानरूप धर्म की श्रद्धा से रहित हैं अर्थात् इस के स्वरूप में और फल में आस्तिक भाव से रहित हैं, नास्तिक हैं वे असुरों के सिद्धान्तों का अनुवर्तन करने वाले देहमात्र को ही आत्मा समझने वाले एवं पापकर्म करने वाले इन्द्रियलोलुप मनुष्य परमेश्वर को प्राप्त न होकर, मृत्युयुक्त संसार के मार्ग में ही घूमते रहते है अर्थात् जो संसार मृत्युयुक्त है उस मृत्यु संसार के नरक और पशुपक्षी आदि योनियों की प्राप्ति रूप मार्ग में वे बारंबार घूमते रहते हैं।

व्यवहारिक दृष्टिकोण से किसी से ज्ञान की प्राप्ति तभी ली जा सकती है जब उसे प्राप्त करने वाले को ज्ञान देने वाले व्यक्ति पर श्रद्धा एवम विश्वास संशय रहित हो। अश्रद्धा से मन मे नकारात्मक भाव एवम अहम रहता है जिस से किसी भी बात को सुनने एवम समझने से पूर्व ही उस का विश्लेषण मन द्वारा होने लगता है एवम ज्ञान यदि आप के अनुकूल नही है तो समझने से पूर्व ही नकार दिया जाता है। यहाँ व्यक्ति वही सुनता है जो वो है, न कि ज्ञान सुन कर जो उसे बनना चाहिये। रावण के मृत्यु के क्षण में जब राम ने

लक्ष्मण को रावण के पास ज्ञान लेने भेजा तो लक्ष्मण के स्वाभिमान एवम गर्व ने उसे रावण के सर के पास खड़ा किया। अतः रावण ने उसे ज्ञान देने से मना किया किन्तु स्वयं राम जब उस से ज्ञान लेने पहुचे तो प्रथम प्रणाम कर के चरणों के पास खड़े हुए जिस से उन्हें रावण ने ज्ञान की बाते कही। गीता या अन्य ग्रंथ पढ़ कर भी यदि हम में कोई परिवर्तन नहीं होता तो दोष गीता या उस ग्रन्थ का नही, हमारे अंदर की अश्रद्धा का है।

श्रद्धा एवम विश्वास एक पत्थर को भी पानी मे तैरा सकता है किंतु यह ह्रदय से अंदर से होनी चाहिए, एक दम अटूट। शंका या दुविधा या अतिशय अभिमान जनित ज्ञान के साथ श्रद्धा नही हो सकती।

मिथ्या गर्व, असत्य भाव एवम अश्रद्धा से हम अपने किसी भी कार्य को जब पूर्ण नहीं कर सकते तो अपनी स्थिति में परिवतर्न भी नही ला सकते। यही बात भगवान श्री कृष्ण भी कहते है कि अपरा प्रकृति से प्रेम एवम मोह रख कर, अधूरे मन से भक्ति या तप करने वाले यदि श्रद्धा भाव से परिपूर्ण नही है तो यह संसार उन से छूट नही सकता क्योंकि मोह ही हमे कर्म बंधन में जकड़ कर रखेगा और उस के कर्म फल हेतु हम बार बार इस दुख स्वरूपी संसार मे विभिन्न योनियों में जन्म लेते रहेंगे।

जिस भाव से यह जीवात्मा क्रियाशील है, वह भाव मन और बुद्धि की देन है। स्थिर मन और चिंतनशील बुद्धि ज्ञान को ग्रहण करती है, किन्तु यह ज्ञान किताबी या कंप्यूटर की हार्डडिस्क का ज्ञान है जिस में जानकारी तो बहुत है, परंतु वह स्वयं में कोई सिद्ध नही। अतः भगवान श्री कृष्ण कहते है, जब तक श्रद्धा, विश्वास और प्रेम का अभाव है, तब तक राजविद्या का ज्ञान किताबी ज्ञान ही है, इस से आत्मोद्धार नही हो सकता। जीव को यदि मोक्ष के लक्ष्य को प्राप्त करना है तो श्रद्धा, विश्वास और प्रेम भाव से शरणागत को कर इस ज्ञान की प्राप्ति करनी चाहिए। हमे यह ज्ञात होना चाहिये कि जो वस्तु मन-इन्द्रिय-बुद्धि से अगोचर है, उस में श्रद्धा- विश्वास के बिना प्रवृति हो ही नही सकती, बिना प्रवृति के पुरुषार्थ नही हो सकता और बिना पुरुषार्थ के उस परब्रह्म की प्राप्ति अर्थात मोक्ष नही हो सकती।

भगवान श्री कृष्ण जिस राजविद्या को आगे कहने जा रहे है उस का सही लाभ उन्ही को मिलेगा जो अनसूयु अर्थात दोष रहित हो एवम पूर्ण श्रद्धा एवम विश्वास के साथ पढ़े।

।। हरि ॐ तत सत।। 9.03।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.4॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेषवस्थितः ॥

"mayā tatam idaṁ sarvaṁ,
jagad avyakta- mūrtinā..।
mat- sthāni sarva- bhūtāni na,
cāhaṁ teṣv avasthitaḥ"..।।

भावार्थ:

मेरे कारण ही यह सारा संसार दिखाई देता है और मैं ही इस सम्पूर्ण-जगत में अदृश्य शक्ति-रूप में सभी जगह स्थित हूँ, सभी प्राणी मुझमें ही स्थित हैं परन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। (४)

Meaning:

This entire universe is pervaded by my unmanifest state. All beings are based in me, I am not based in them.

Explanation:

This shloka and the next are the crux of the teaching in this chapter. Shri Krishna makes three core points: that the entire universe is pervaded by his unmanifest state, that all beings are based in him, and that he is not based in them. Let us first take a step back to understand the context of this teaching before we delve into these three points.

The Vedic philosophy does not accept the concept of God creating the world and then peeping into it from the seventh heaven to check whether His world is running all right. They repeatedly propound the theme of God being all-pervading in the world:

“There is one God; He is seated in everyone’s heart; He is also everywhere in the world.” (Śhwetāśhvatar Upaniṣhad 6.11)

“God is everywhere in theworld.”

(Īśhopaniṣhad 1)

“God pervades everything that has existed and all that will exist.” (Puruṣh

Sūktam)

Some Eastern philosophers claim that the world is a pariṇām (transformation) of God. The protagonists of pariṇām vāda state that God has transformed into the world.

Other philosophers claim that the world is vivarta (to mistake one object for another). They say that there is only God and no world; what we are seeing as the world is actually Brahman.

However, according to verses 7.4 and 7.5, the world is neither pariṇām nor vivarta. It is created from the material energy of God, called Maya śhakti. The souls too are the energy of God, but they are His superior energy, called Jīva śhakti. Therefore, the world and all the souls in it are both God’s energies and are within His personality. However, Shree Krishna also says that He does not dwell in the living beings, i.e. the infinite is not contained by the finite beings. That is because He is far more than the sum total of these two energies. Just as an ocean throws up many waves, and these waves are a part of the ocean, but the ocean is much more than the sum total of the waves, similarly too, the souls and Maya exist within the personality of God, yet He is beyond them.

The eighth chapter described meditative techniques that we had to follow throughout our lives in order to attain Ishvara, so that we can be liberated from the cycle of creation and dissolution. Now, Shri Krishna reveals a

secret that will enable us to immediately gain access to Ishvara 24/7. And unlike other techniques described so far, we do not have to do any action. We just have to know.

What is this secret knowledge? Let us start with the first point. Shri Krishna says that Ishvara is present in every living and non-living being within this universe. If that's the case, then we do not need to put in any extra effort. Once we train ourselves to view Ishvara in everything, we will gain access to him 24/7. We will not need to do any extra physical or mental activity to make that happen. But if it were that simple, why cannot we put it into practice immediately? It is because we have been preconditioned since time immemorial to see everything but Ishvara. Removing this preconditioning is the topic of the Gita.

The second point made by Shri Krishna is that all beings are based in him. Let us bring up the example of the ocean and the waves to understand this point. A five years old girl sitting on the beach will look at the waves, the foam and the ripples and conclude that they are independent things. But her mother knows that all of those shapes are created because of the ocean. Also, the girl who has to inquire about where these shapes come from. The mother does not have to do anything. She just knows that everything is nothing but water in the ocean. So, the mother will tell her, "that's just the ocean".

Now, let's say the girl sees a ripple in a lake instead of the ocean. She points to it and says, "that's the ocean". The mother will now enhance her statement slightly by saying "that is not the ocean, that is a ripple. It is just a shape taken by water, which is in the ocean and in the lake". Water is an abstract concept which a child slowly learns by example.

Similarly, we may begin to think that Ishvara is resident in an idol, or a saint, or a holy place. Like the ripple, they are names and forms. Even

Arjuna would have found it hard to believe that Shri Krishna, who is in front of him, can pervade the entire universe. So therefore, Shri Krishna says that no visible entity can ever contain Ishvara who is beyond name and form. The true nature of Ishvara is formless. This is the third point in this shloka.

Still, a question remains. Just like we still see waves in the ocean even after knowing that they are water, we still come across thousands of names and forms every day. Many of those names and forms are people that we interact with, speak with, work with and so on. Aren't those people "real"? How do we reconcile this? Shri Krishna addresses this confusion in the next shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

इस श्लोक को समझने के लिये पहले हमें अपनी भौतिक सीमाओ को समझना पड़ेगा। ज्ञानेद्रियां का सीमित क्षेत्र है, इसलिए परमात्मा को जो लोग ज्ञानेद्रियों से प्रमाणित करने की कोशिश करते है वे असफल होते है। परमात्मा मन की भावनाओ और अनुभूति से जाना जा सकता है, इसलिए उस ने अपना निवास सभी के हृदय में बनाया। इसलिए वह सब के हृदय में रह कर भी उन में स्थित नही है।

परमात्मा शब्द के लिए सूक्ष्म, व्यक्त, अव्यक्त, सर्वव्यापी, निराकार, सर्वत्र और कण कण में व्याप्त आदि शब्दो के प्रयोग के बाद भी नेति नेति शब्द कहा गया है जिस का अर्थ है कि जिस का कोई वर्णन नहीं किया जा सकता। व्यक्त परमात्मा तीन रूप में वर्णित है, सगुण, सगुण-निगुण और अंत मे निर्गुण। जब भी हम उपासना शुरू करते है तो उस के चिंतन, मनन एवम ध्यान की आवश्यकता होती है। उपासना का आधार सात्विक एवम निष्ठा है अतः जैसी उपासना करेंगे वैसा ही फल प्राप्त होगा। चिंतन किसी भी अव्यक्त का नही हो सकता क्योंकि हमारी मन, बुद्धि एवम मनन की एक सीमा है इसलिये किसी भी व्यक्त स्वरूप से इसे शुरुवात करते है, जो मनन करते करते व्यक्त से अव्यक्त की ओर बढ़ती है, फिर ध्यान में अव्यक्त स्वरूप हो जाती है।

इसलिये जब सगुण उपासना की बात है तो परमात्मा कहते है सम्पूर्ण प्राणी मेरे में स्थित हैं अर्थात् परा अपरा प्रकृतिरूप सारा जगत् मेरे में ही स्थित है। वह मेरे को छोड़कर रह ही नहीं सकता। कारण कि सम्पूर्ण प्राणी मेरे से ही उत्पन्न होते हैं। मेरे में ही स्थित रहते हैं और

मेरे में ही लीन होते हैं अर्थात् उन का उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयरूप जो कुछ परिवर्तन होता है, वह सब मेरे में ही होता है। अतः वे सब प्राणी मेरे में स्थित हैं। अतएव ब्रह्म सत भी नही और असत भी नही, वह दूर है और समीप भी है एवम जो धर्म और अधर्म के, कृत और अकृत के या भूत एवम भव्य से परे है उसे ही ब्रह्म जानो - ब्रह्म सत्य (सत), ज्ञान (चित्त) एवम आनन्दस्वरूप है अर्थात सतचित्तानन्द स्वरूप है। इस का वर्णन जो कुछ नही किया जाता है यह उस से भी परे अवर्णनीय है।

फिर जब सगुण से निर्गुण की उपासना की बात आती है तो परमात्मा का कथन है मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। कारण कि यदि मैं उन में स्थित होता तो उन में जो परिवर्तन होता है, वह परिवर्तन मेरे में भी होता उन का नाश होने से मेरा भी नाश होता और उनका अभाव होने से मेरा भी अभाव होता। तात्पर्य है कि उनका तो परिवर्तन, नाश और अभाव होता है परन्तु मेरे में कभी किञ्चिन्मात्र भी विकृति नहीं आती। मैं उन में सब तरह से व्याप्त रहता हुआ भी उनसे निर्लिप्त हूँ। उनसे सर्वथा सम्बन्धरहित हूँ। मैं तो निर्विकार रूप से अपने आप में ही स्थित हूँ। वास्तव में मैं उन में स्थित हूँ ।

इसलिये यह प्रकृति, माया, संसार उस व्यक्त परमात्मा का ही व्यक्त स्वरूप है जिस में परमात्मा दिखता है किंतु वह परमात्मा नही है। दर्पण में अपना स्वरूप देख कर समझ सकते है कि वो हम ही है किंतु वह स्वरूप हमारा होते हुए भी हम नही है। न तो हम दर्पण है और न ही उस मे दिखने वाला स्वरूप हम है। मीरा ने भगवान श्री कृष्ण को व्यक्त भाव मे मूर्ति में देखा और उस की उपासना में इतनी लीन हो गयी कि वो स्वयं ही कृष्ण में समा गई। मूर्ति में कृष्ण है किंतु मूर्ति कृष्ण नही। इस व्याप्त जगत में परमात्मा है किंतु परमात्मा में यह व्याप्त जगत नही। वो इस से भी आगे अव्यक्त है। यह जगत उस दिव्य स्वप्न की भांति है जिस में सब कुछ घटित होते दिखता है, अनुभव होते भी दिखता है किंतु होता नहीं है। जो स्वप्न देखता है वो जानता है कि यह असत्य है और जो स्वप्न में खो जाता है वो इस को सत्य समझ बैठता है।

अर्जुन को परमात्मा जब अपना व्यक्त स्वरूप दिखाया तो वह उस परमात्मा की माया से उत्पन्न ही माया ही थी, क्योंकि जो अत्यंत सूक्ष्म से सूक्ष्म है जो सर्व व्याप्त है वो अव्यक्त है उस को किसी भी व्यक्त स्वरूप में पूर्ण नही मान सकते।

मुझ अव्यक्त रूप परमात्मा द्वारा अर्थात् मेरा जो परम भाव है, जिस का स्वरूप प्रत्यक्ष नहीं है यानी मन, बुद्धि और इन्द्रियों का विषय नहीं है। ऐसे मुझ अव्यक्तमूर्ति द्वारा यह

समस्त जगत् व्याप्त है, परिपूर्ण है। अर्थात यह सम्पूर्ण जगत परमात्मा के अव्यक्त स्वरूप अपरा - परा प्रकृति की सत-रज-तम गुण द्वारा माया से रचित है जिस में उतपत्ति - विकास - विनाश का चक्र चलता रहता है।

उस अव्यक्त स्वरूप मुझ परमात्मा में ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणी स्थित हैं। क्योंकि कोई भी निर्जीव प्राणी व्यवहार के योग्य नहीं समझा जाता। अतः वे सब मुझ में स्थित हैं अर्थात् मुझ परमात्मा से ही आत्मवान् हो रहे हैं। इसलिये मुझ में स्थित कहे जाते हैं। उन भूतों का वास्तविक स्वरूप मैं ही हूँ इसलिये अज्ञानियों को ऐसी प्रतीति होती है कि मैं उनमें स्थित हूँ, अतः कहता हूँ कि मैं उन भूतों में स्थित नहीं हूँ। क्योंकि साकार वस्तुओं की भाँति मुझ में संसर्गदोष नहीं है। इसलिये मैं बिना संसर्ग के सूक्ष्मभाव से आकाश के भी अन्तर्व्यापी हूँ। सङ्गहीन वस्तु कहीं भी आधेयभाव से स्थित नहीं होती, यह प्रसिद्ध है। क्योंकि मैं अव्यक्त, अविनाशी, अकर्ता एवम साक्षी हूँ।

वेदांत में संसार की रचना परमात्मा ने स्वर्ग में बैठ कर की गई है, को मान्यता नहीं है। इस के अतिरिक्त ब्रह्म सत्य - जगत मिथ्या को भी समझने के लिए मिथ्या को समझना आवश्यक है। मिथ्या का अर्थ जो उपलब्ध तो है किंतु परिवर्तनशील है, इसलिए जगत प्रकृति की माया में नित्य परिवर्तित होता रहता है और जो परिवर्तित नही होता, वह ब्रह्म है, यह ब्रह्म हो सर्वव्याप्त हो कर प्रकृति और ब्रह्मांड में कण कण में है। अज्ञानी लोग भ्रमित हो कर रस्सी को सर्प समझ लेते है वैसे ही जगत में प्रकृति, जन्म - मृत्यु आदि प्रकृति योगमाया की नही समझ पाने के कारण कुछ लोग भ्रमित हो, विश्व व्यापी ब्रह्म को नही समझ कर प्रकृति की माया को ही परमात्मा समझ कर भ्रमित होते रहते है।

परमात्मा का भ्रमित स्वरूप परमात्मा नहीं है, यह तथ्य भी उतना ही गलत होगा, जितना परमात्मा के विश्वव्यापी स्वरूप को न समझ पाना। परमात्मा सभी में व्याप्त होने से सभी के अंदर है, किंतु सभी परमात्मा नही है। इसलिए परमात्मा को जानना और समझना अनुभव का विषय है।

सरल शब्दों में हम यह समझ सकते है कि परब्रह्म का व्याप्त रूप सम्पूर्ण जगत में विद्यमान है। सातवे और आठवें अध्याय में ज्ञान-विज्ञान योग और अक्षर ब्रह्म योग पढ़ने से यह स्पष्ट किया गया था कि सम्पूर्ण सृष्टि का सूत्रधार परब्रह्म ही है और इहलोक लोक से ब्रह्म लोक तक सृष्टि का विसर्ग और प्रलय होता है। अर्थात परब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी शास्वत नही है और सम्पूर्ण सृष्टि की रचना और विनाश परब्रह्म के द्वारा ही है। इसलिये

सृष्टि के सभी व्यक्त और अव्यक्त स्वरूप में परब्रह्म ही है, यह सगुण एवम निर्गुण अनेक स्वरूप में व्याप्त है। भ्रमित जीव अज्ञान से अपने को कर्ता मानता है और ब्रह्म के स्वरूप को विभिन्न स्वरूप में सीमित करता है। इसलिये भगवान श्री कृष्ण स्पष्ट करते है, प्रत्येक स्वरूप में मैं विद्यमान अवश्य हूँ किन्तु सम्पूर्ण रूप से में वह स्वरूप नही हूँ। घट में आकाश है, किन्तु घट आकाश नही है। यह तत्व धर्म को सीमित करने वाले उन अज्ञानी लोगो के लिये जो अपने ईश्वर के अतिरिक्त किसी धर्म या इंसान, पशु, पक्षी को कुछ नही समझते, धार्मिक मतान्धता और वैमनस्य फैलाते है। ईश्वर को संकीर्ण विचारधारा में सीमित रख कर द्वेष, कट्टरवादिता और हिंसा का सहारा लेते है।

परब्रह्म के स्वरूप को समझने और उस का विभिन्न स्वरूप में विद्यमान होने, उस की विभिन्न कार्य पद्धति को जानने के लिये श्रद्धा, विश्वास, प्रेम एवम अनुसूया होना आवश्यक है, अन्यथा यह अद्वितीय ज्ञान तर्क और बहस का विषय बन कर रह जाता है।

इसी को आगे और अधिक विस्तृत स्वरूप में अगले श्लोक में पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 9.04।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.5॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥

"na ca mat-sthāni bhūtāni,
paśya me yogam aiśvaram..।
bhūta- bhṛn na ca bhūta- stho,
mamātmā bhūta- bhāvanaḥ"..।।

भावार्थ:

हे अर्जुन! यह मेरी एश्वर्य-पूर्ण योग-शक्ति को देख, यह सम्पूर्ण सृष्टि मुझ में कभी स्थित नहीं रहती है, फ़िर भी मैं सभी प्राणीयों का पालन-पोषण करने वाला हूँ और सभी प्राणीयों मे शक्ति रूप में स्थित हूँ परन्तु मेरा आत्मा सभी प्राणीयों में स्थित नहीं रहता है क्योंकि मैं ही सृष्टि का मूल कारण हूँ। (५)

Meaning:

And yet everything that is created does not rest in Me. Behold My mystic opulence! Although I am the maintainer of all living entities and although I am everywhere, I am not a part of this cosmic manifestation, for My Self is the very source of creation.

Explanation:

Shri Krishna takes the argument of the prior shloka one step further. He says that what we see through our eyes, hear through our nose, touch through our skin is just a series of names and forms. It is a divine power of Ishvara, just like the skill of a magician. These names and forms appear as if they are created, sustained and destroyed by Ishvara, but in reality, there is no such thing.

We notice that the first statement “all beings do not reside in me” contradicts the statement in the last shloka “all beings are based in me.” This is because each statement is made from a different perspective, based on our level of understanding.

If we think that the world of names and forms is real, then Ishvara says that all beings are based in him. It is like the little girl thinking that the foam and the waves in the ocean are real entities.

But, if we advance our understanding, if we know that the world of names and forms is a play of Ishvara, then he says that none of those beings, those names and forms, reside in him. The illusion of the magician does not reside in the magician, because an illusion cannot reside in something real. That is why Shri Krishna says that Ishvara's self is not contained in all beings.

Now, even though we have this knowledge, will still see, hear, touch, feel and taste the world. Those forms in the world will be created, survive, and

eventually dissolve. Our near and dear ones will prosper, but will also leave us one day. All of this is a play of Ishvara's maayaa. To this end, he asserts that he is the creator and sustainer of these names and forms.

As an example, we look up at the sky and observe that it is blue in colour. We know that the blue colour is just an illusion caused by the scattering of light waves. However, even after we know this, our eyes still report the color of the sky as blue. Similarly, Shri Krishna urges us to recognize that Ishvara's divine power of maayaa, his "home theatre system", creates all the names and forms that our lives are made up of.

Beyond the two energies mentioned in the purport to the previous verse—Maya śhakti and Jīva śhakti—there is a third energy of God. This is called Yogmaya śhakti, which He refers to in this verse, as divine energy. Yogmaya is God's all-powerful energy. It is called kartum-akartum-samarthaḥ, or "that which can make the impossible possible," and is responsible for many of the amazing things we attribute to His personality. For example, God is seated in our hearts, yet we have no perception of Him. This is because His divine Yogmaya power keeps us aloof from Him.

So then, what is the essence of these two key shlokas? Our senses will always report names and forms to our mind and intellect. If we know that they are all illusory names and forms, we will gain liberation. If we get sucked into thinking that they are real, we will be trapped in their apparent reality.

This teaching requires further elaboration. To that end, Shri Krishna provides an illustration in the next shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

श्लोक की समीक्षा से पूर्व हमें यह समझना होगा कि सृष्टि की क्रियाएं कार्य - कारण सिद्धांत अर्थात किसी भी कार्य के होने का कुछ कारण अवश्य होता है और कारण भी कार्य

से ही उत्पन्न होता है अर्थात प्रत्येक कर्म के होने का कारण होगा और उस का फल भी अवश्य होगा। इस कार्य कारण के सिद्धांत को नियमित प्रकृति अपनी योगमाया से करती है। योग माया के द्वारा ही जीव भ्रमित हो कर अपने को कर्ता और भोक्ता मानता है। इसलिए जगत का पालनकर्ता ब्रह्म, जगत का संचालन योगमाया से इस प्रकार करता है कि वह कर्ता हो कर भी अकर्ता है। अतः माया शक्ति और जीव शक्ति का नियंत्रण योग माया शक्ति के द्वारा होता है। यह संचालन इतना अधिक स्वचलित और नियमबद्ध है कि अवतार के समय ब्रह्म को भी इसी कर अनुसार चलना होता है।

परमात्मा अपने अव्यक्त स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते है कि मैं सर्वत्र व्याप्त हूं इसलिए संसार में परमात्मा हैं और परमात्मा में संसार है तथा परमात्मा संसार में नहीं हैं और संसार परमात्मा में नहीं है। अर्थात परिभाषा की दृष्टिकोण से परमात्मा की परिभाषा संसार की नही हो सकती। ब्रह्म अपरिभाषित, कालातीत, अकर्ता, अविनाशी, साक्षी है, जबकि संसार का सर्ग और प्रलय होता रहता है।

अब कार्यकारण की दृष्टि से देखें तो जैसे मिट्टी से बने हुए जितने बर्तन हैं, उन सब में मिट्टी ही है क्योंकि वे मिट्टी से ही बने हैं। मिट्टी में ही रहते हैं और मिट्टी में ही लीन होते हैं अर्थात् उन का आधार मिट्टी ही है। इसलिये बर्तनों में मिट्टी है और मिट्टी में बर्तन हैं। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो बर्तनों में मिट्टी और मिट्टी में बर्तन नहीं हैं। अगर बर्तनों में मिट्टी होती, तो बर्तनों के मिटने पर मिट्टी भी मिट जाती। परन्तु मिट्टी मिटती ही नहीं। अतः मिट्टी मिट्टी में ही रही अर्थात् अपने आप में ही स्थित रही। ऐसे ही अगर मिट्टी में बर्तन होते, तो मिट्टी के रहने पर बर्तन हरदम रहते। परन्तु बर्तन हरदम नहीं रहते। इसलिये मिट्टी में बर्तन नहीं हैं। ऐसे ही संसार में परमात्मा और परमात्मा में संसार रहते हुए भी संसार में परमात्मा और परमात्मा में संसार नहीं है। कारण कि अगर संसार में परमात्मा होते तो संसार के मिटने पर परमात्मा भी मिट जाते। परन्तु परमात्मा मिटते ही नहीं। इसलिये संसार में परमात्मा नहीं हैं। परमात्मा तो अपने आप में स्थित हैं। ऐसे ही परमात्मा में संसार नहीं है। अगर परमात्मा में संसार होता तो परमात्मा के रहने पर संसार भी रहता परन्तु संसार नहीं रहता। इसलिये परमात्मा में संसार नहीं है।

एक अन्य उदाहरण में हम एक बहुत बड़े कारखाने को ले जिस में हजारों लोग काम कर रहे है, वह कारखाना और कर्मचारी उस के मालिक का है किंतु मालिक वह कारखाना नही है। कारखाना मालिक का होते हुए भी मालिक का नही है क्योंकि उस के माल खरीदी, बिक्री,

उत्पादन और कार्य पद्धिति मालिक से स्वतंत्र है, किंतु उस के निर्देशनुसार भी है। सृष्टि अपने प्रत्येक कार्य मे कार्य-कारण के नियम के अनुसार कर्म फल देती है, जो परब्रह्म से निर्देशित भी है और स्वतंत्र भी है। प्रत्येक कर्मचारी जानता है कि वह उस के मालिक का कार्य कर रहा है किंतु मालिक उस के कार्य की नही कर रहा है। सभी कुछ एक नियम बद्ध पद्धति से आगे बढ़ रहा है। कुछ लोग मालिक के नजदीक है और कुछ लोग दूर। कारखाने की पूरी क्रिया स्वतंत्र भी और मालिक के निर्देशानुसार भी है। मालिक प्रत्येक पर नजर भी रखे है और नही भी। समुंदर में लहरे उठती है किंतु लहर समुंदर में नही होती। व्यक्त जगत का संचालन परमात्मा करते हुए भी अकर्ता ही है।

मैं सम्पूर्ण जगत् में स्थित हूँ, के विरुद्ध यहाँ कहते हैं कि मैं उन में स्थित नहीं हूँ। कारण कि यदि मैं उन में स्थित होता तो उन में जो परिवर्तन होता है, वह परिवर्तन मेरे में भी होता उन का नाश होने से मेरा भी नाश होता और उन का अभाव होने से मेरा भी अभाव होता। तात्पर्य है कि उन का तो परिवर्तन, नाश और अभाव होता है परन्तु मेरे में कभी किञ्चिन्मात्र भी विकृति नहीं आती। मैं उन में सब तरह से व्याप्त रहता हुआ भी उन से निर्लिप्त हूँ, उन से सर्वथा सम्बन्धरहित हूँ। मैं तो निर्विकार रूप से अपने आप में ही स्थित हूँ। वास्तव में मैं उन में स्थित हूँ -- ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि मेरी सत्ता से ही उन की सत्ता है, मेरे होनेपन से ही उन का होनापन है। यदि मैं उन में न होता, तो जगत् की सत्ता ही नहीं होती। जगत् का होनापन तो मेरी सत्ता से ही दीखता है। इसलिये कहा कि मैं उन में स्थित हूँ।

सगुण उपासक परमात्मा की भक्ति के लिए अपने उपासना स्थल में मूर्ति या फोटो की स्थापना करता है, उस के अनुसार परमात्मा उस मूर्ति या फोटो में है किंतु वास्तव में परमात्मा उस फोटो या मूर्ति में नहीं, उस की श्रद्धा और विश्वास के कारण उस में वह देख रहा है। मंदिर में हम परमात्मा की मूर्ति को भगवान मानते हुए पूजते है, इसलिए वह मूर्ति भगवान होती है किंतु भगवान मूर्ति नही होते। अपनी तूलिका से चित्र का सृजन करने वाले कलाकार की कृति में कलाकार है भी और नहीं भी। किंतु नहीं होते हुए भी, वह चित्र में पूरे मन से रंग भर कर उस को जीवित करता है वैसे ही परमात्मा अकर्ता होते हुए भी, इस जगत का संचालन और पालन करता है।

अब भगवान् सम्पूर्ण प्राणी मेरे में स्थित हैं, के विरुद्ध यहाँ कहते हैं कि वे प्राणी मेरे में स्थित नहीं हैं। कारण कि अगर वे प्राणी मेरे में स्थित होते तो मैं जैसा निरन्तर निर्विकार

रूप से ज्यों का त्यों रहता हूँ, वैसा संसार भी निर्विकार रूप से ज्यों का त्यों रहता। मेरा कभी उत्पत्ति विनाश नहीं होता, तो संसार का भी उत्पत्ति विनाश नहीं होता। एक देश में हूँ और एक देश में नहीं हूँ, एक काल में हूँ, और एक काल में नहीं हूँ, एक व्यक्ति में हूँ और एक व्यक्ति में नहीं हूँ - ऐसी परिच्छिन्नता मेरे में नहीं है, तो संसार में भी ऐसी परिच्छिन्नता नहीं होती। तात्पर्य है कि निर्विकारता, नित्यता, व्यापकता, अविनाशीपन आदि जैसे मेरे में हैं, वैसे ही उन प्राणियों में भी होते। परन्तु ऐसी बात नहीं है। मेरी स्थिति निरन्तर रहती है और उनकी स्थिति निरन्तर नहीं रहती, तो इस से सिद्ध हुआ कि वे मेरे में स्थित नहीं हैं।

यह बाह्य जगत में हर प्राणी में ईश्वर का निवास है। हर प्राणी में स्थित आत्मा को परमात्मा का स्वरूप माना गया है। प्रकृति अपने त्रियामी गुण से माया द्वारा इस संसार का संचालन करती है जिस से जीव मोहित हो कर कर्तृत्व भाव से कर्म करता है। इस संसार का संचालन परमात्मा के आधीन प्रकृति करती है। अतः परमात्मा इस संसार मे सर्व व्याप्त है। किंतु वो कर्ता नही है, प्रकृति के उत्पत्ति विनाश में न कभी नष्ट होता है न ही पैदा होता है। मनुष्य ही आत्मा को कर्ता मान लेता है। इसलिये अव्यक्त, अविनाशी सतत है वो यह संसार मे हो कर भी नही है। यह ब्रह्मा जी रचना उत्पन्न हो कर नष्ट होती रहती है किंतु परमात्मा कभी नष्ट नहीं होता।

आत्मा और परब्रह्म दोनों में एक ही यानि ब्रह्म स्वरूप है और यह चित्स्वरूपी ब्रह्म जब माया में प्रतिबिम्बित होता है तब सत्व, रज, तम गुणमयी प्रकृति का निर्माण होता है। परंतु आगे चल कर इस माया के ही दो भेद 'माया' एवम अविद्या किये गए है और यह बताया गया है, कि जब माया के तीन गुणों में से शुद्ध सत्वगुण का उत्कर्ष होता है तब उसे केवल माया कहते है और इस माया में प्रतिबिम्ब होने वाले ब्रह्म को सगुण यानि व्यक्त ईश्वर कहते है और यदि यही सत्व गुण अशुद्ध हो तो उसे अविद्या कहते है तथा इस अविद्या में प्रतिबिम्ब ब्रह्म को जीव कहते है।

परमात्मा का सच्चा श्रेष्ठ स्वरूप अव्यक्त है, व्यक्त सृष्टि की धारणा करना तो उस की माया है। इसलिये भगवान कहते है प्रकृति के गुणों से मोह के फस के मूर्ख लोग (अव्यक्त और निर्गुण) आत्मा को ही कर्ता मानते है, किन्तु ईश्वर तो कुछ नही करता, लोग केवल अज्ञान से धोखा खाते है । परमात्मा ने स्पष्ट शब्दों में कहा है यद्यपि व्यक्त आत्मा या परमेश्वर वस्तुतः निर्गुण है तो भी मनुष्य उस पर मोह एवम अज्ञान से कर्तृत्व आदि गुणों

का अध्यारोप करते है और उसे अव्यक्त सगुण बना देते है। यह बिल्कुल ऐसा ही है जैसे सूर्य के प्रकाश की तुलना दीपक से करना एवम दीपक को ही सूर्य समझने की भूल करना।

इस पूरे संसार का संचालन करते हुए भी परमात्मा अकर्ता ही है क्योंकि संसार प्रकृति के नियमो के आधार पर चलती है इसलिये कुछ लोग जो अपने कर्मो को भोगते हुए जब भगवान को दोष देते है तो वो अज्ञान ही है। क्योंकि इस संसार मे परमात्मा का अंश है किंतु परमात्मा में संसार नहीं है, इस सृजन एवम प्रलय होता है किंतु परमात्मा का नहीं।

इन दो श्लोक के बाद परमात्मा अपने को और भी अच्छे तरीके से व्यक्त करते है जिसे हम आगे पढेंगे।

।। हरि ॐ तत सत ।। 9.05।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.6॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥

"yathākāśa-sthito nityaṁ,
vāyuḥ sarvatra-go mahān..।
tathā sarvāṇi bhūtāni,
mat-sthānīty upadhāraya"..।।

भावार्थ:

जिस प्रकार सभी जगह बहने वाली महान वायु सदैव आकाश में स्थित रहती है, उसी प्रकार सभी प्राणी मुझ में स्थित रहते हैं। (६)

Meaning:

Just like the mighty wind travels everywhere, established in space, so too, all beings reside in me, understand this.

Explanation:

The key teaching of the chapter is that Ishvara pervades everything, that all beings are sustained by Ishvara, but Ishvara is not contained in any of them. To illustrate these statements, Shri Krishna compares Ishvara to space. He says that space enables everything to exist within it, like wind, for example. In the same way, all living and non- living entities dwell in Ishvara.

Shree Krishna has used the term mat sthāni three times, from the fourth verse to the sixth verse. It means “all living beings rest in Him.” They cannot be separated from Him even though they transmigrate in different bodies and accept affinity with matter.

The Supreme Lord now gives an analogy to enable Arjun to grasp the concept. The wind has no existence independent from the sky. It moves incessantly and furiously, and yet, it rests within the sky. Likewise, the souls have no existence independent of God. They move in time, place, and consciousness, through transitory bodies, sometimes rapidly and sometimes slowly, and yet, they always exist within God.

Let us understand the nature of space. It is indivisible, which means that even if we try to divide it by building walls, we cannot do so. It does not get affected by what it contains. A flower generates fragrance when fresh and odour when it decays. But both those qualities do not get transferred to space, since space has no qualities. It also pervades everything. Over 99% of an atom is empty space. And it is infinite. No object can ever contain space.

Similarly, Shri Krishna says that Ishvara is infinite, indivisible, pervades everything, and remains unaffected by what he sustains. How does this help us? Knowing that Ishvara is everywhere reduces our sorrow, delusion, fear, likes and dislikes. If everything is Ishvara, and if we also know that we are in Ishvara, there is nothing to fear or like or dislike. That is how we get liberated.

There is a story in the Ishvaavaasya Upanishad. The gods tried to have a race with Ishvara. But wherever they ended up, Ishvara was already there. Another interpretation of this story is that the senses also tried to outrun Ishvara but could not. It is like trying to race with space. It is a futile effort, because space is all-pervading. So is Ishvara.

From another perspective, everything that exists in cosmos is subordinate to the will of God. It is created, maintained, and annihilated in accordance with His will. In this way also, everything can be said to be resting in Him.

Now, just like we see the blue sky with our eyes, we also see things and people on this earth being created and destroyed. We know that the blue colour is an illusion, but do we really understand that creation and dissolution is an illusion as well? This is taken up next.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पिछले श्लोकों अव्यक्त स्वरूप एवम प्रकृति से परमात्मा का सम्बंध समझ में आ सके इस लिये भगवान एक उदाहरण देते है जैसे वे आकाश की भांति भगवान का स्वरूप सम, निराकार, अकर्ता, अनन्त, असंग और निर्विकार है एवम उस मे यह जीव, प्रकृति और संसार वायु की भांति भगवान से उत्पन्न भूत , उसी में स्थित एवम उस मे ही लीन है। वायु की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आकाश में ही होने के कारण वह कभी किसी भी अवस्था मे आकाश से अलग नही रह सकता, सदा आकाश में ही स्थित रहता है।

यह समझना कठिन है कि संसार भगवान में कैसे स्थित रह सकता है। ग्रीक लोक कथाओं के चित्र में एटलस को ग्लोब उठाए दिखाया गया है। एटलस ने टाइटन्स के साथ ओलम्पस पर्वत के देवताओं के विरुद्ध युद्ध लड़ा था। पराजित होने पर दण्ड के रूप में उसे अपमानित किया गया था और उसे सदा के लिए अपनी पीठ पर एक बड़े स्तंभ के साथ स्वर्ग और पृथ्वी का भार सहन करना पड़ा जो उसके कंधो पर पृथ्वी और स्वर्ग को अलग करता हुआ दिखाई देता है किन्तु यहाँ इसका अभिप्राय श्रीकृष्ण के कथन के अनुसार ऐसा नहीं है कि जब वे यह कहते हैं कि उन्होंने सभी प्राणियों को धारण किया हुआ है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अंतरिक्ष में है और अंतरिक्ष भगवान द्वारा निर्मित ऊर्जा है। इसलिए सभी जीवों को भगवान में स्थित बताया जाता है।

किसी ऐसी वस्तु की कल्पना कर सकना अत्यन्त कठिन है जो सर्वत्र विद्यमान है? जिस में सब की स्थिति है और फिर भी? वह स्वयं उन सब वस्तुओं के दोषों से लिप्त या बद्ध नहीं होती। सामान्य मनुष्य की बुद्धि इस ज्ञान की ऊँचाई तक सरलता से उड़ान नहीं भर सकती। शिष्य की ऐसी बुद्धि के लिये एक टेक या आश्रय के रूप में यहाँ एक अत्यन्त सुन्दर और आकर्षक उदाहरण प्रस्तुत किया गया है? जिसकी सहायता से स्वयं को ऊँचा उठाकर वह अपने ही परिच्छेदों के परे दृष्टिपात करके अनन्त तत्त्व के विस्तार का दर्शन कर सके। स्थूल कभी सूक्ष्म को सीमित नहीं कर सकता। जैसे किसी कवि ने गाया है? पाषाण की दीवारें कारागृह नहीं बनातीं? क्योंकि एक बन्दी के शरीर को वहाँ बन्दी बना लेने पर भी उसके विचार अपने मित्र और बन्धुओं के पास पहुँचने में नित्य मुक्त हैं? स्वतन्त्र हैं। स्थूल पाषाण की दीवारें उसके सूक्ष्म विचारों की उड़ान पर प्रतिबन्ध नहीं लगा सकतीं। यदि एक बार इस सिद्धांत को भली भांति समझ लें? तो यह दृष्टान्त अत्यन्त भाव व्यंजक बनकर अपने गूढ़ अभिप्रायों को प्रदर्शित कर देता है। वायु का बहना? घूर्णन करना और भंवर के रूप में वेग से घूमना यह सब कुछ एक आकाश में होता है। आकाश उन सबको आश्रय देकर उन्हें सर्वत्र व्याप्त किये रहता है? किन्तु वे किसी भी प्रकार से आकाश को सीमित नहीं करते। सामान्य बौद्धिक क्षमता का साधक भी यदि इस दृष्टान्त का मनन करे? तो वह आत्मा और अनात्मा के बीच के वास्तविक संबंध को समझ सकता है? उसे परिभाषित कर सकता है। सत्य वस्तु मिथ्या का आधार है मिथ्या तादात्म्य से उत्पन्न असंख्य जीव नित्य और सत्य वस्तु में ही रहते हुए सुखदुख? कष्ट और पीड़ा का जीवन जीते हुए दिखाई देते हैं। परन्तु मिथ्या वस्तु कभी सत्य को सीमित या दोषलिप्त नहीं कर सकती। वायु के विचरण से आकाश में कोई गति नहीं आती आकाश वायु के सब गुण धर्मों से मुक्त रहता है। सर्वव्यापक आकाश की तुलना में? जिसमें कि असंख्य ग्रह नक्षत्र? तारामण्डल अमाप गति से घूम रहे हैं? यह वायुमण्डल और उसके विकार तो पृथ्वी की सतह से कुछ मील की ऊँचाई तक ही होते हैं। अनन्त सत्य की व्यापक विशालता में? अविद्याजनित मिथ्या जगत् के परिवर्तन की रंगभूमि मात्र एक नगण्य क्षेत्र है॥. और वहाँ भी सत्य और मिथ्या के बीच संबंध वही है? जो चंचल वायु और अनन्त आकाश में है।यह श्लोक केवल शब्दों के द्वारा सत्य का वर्णन करने के लिए नहीं है। व्याख्याकारों का वर्णन कितना ही सत्य क्यों न हो प्रत्येक जिज्ञासु साधक को इनके अर्थ पर स्वयं चिन्तनमनन करना होगा।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि ये सम्पूर्ण प्राणी मेरे में ही स्थित हैं। मेरे को छोड़कर ये कहीं जा सकते ही नहीं। ये प्राणी प्रकृति और प्रकृतिके कार्य शरीर आदिके साथ कितना ही घनिष्ठ

सम्बन्ध मान लें? तो भी वे प्रकृति और उसके कार्य से एक हो सकते ही नहीं और अपने को मेरे से कितना ही अलग मान लें, तो भी वे मेरे से अलग हो सकते ही नहीं।वायु को आकाश में नित्य स्थित बताने का तात्पर्य यह है कि वायु आकाश से कभी अलग हो ही नहीं सकती। वायु में यह किञ्चिन्मात्र भी शक्ति नहीं है कि वह आकाश से अलग हो जाय क्योंकि आकाश के साथ उस का नित्यनिरन्तर घनिष्ठ सम्बन्ध अर्थात् अभिन्नता है। वायु आकाश का कार्य है और कार्य की कारण के साथ अभिन्नता होती है। कार्य केवल कार्य की दृष्टि से देखने पर कारण से भिन्न दीखता है परन्तु कारण से कार्य की अलग सत्ता नहीं होती। जिस समय कार्य कारण में लीन रहता है। उस समय कार्य कारण में प्रागभाव रूप से अर्थात् अप्रकट रूप से रहता है। उत्पन्न होने पर कार्य भाव रूप से अर्थात् प्रकटरूप से रहता है और लीन होनेपर कार्य प्रध्वंसाभावरूप से अर्थात् कारण रूप से रहता है। कार्य का प्रध्वंसाभाव नित्य रहता है। उस का कभी अभाव नहीं होता क्योंकि वह कारण रूप ही हो जाता है। इस रीति से वायु आकाश से ही उत्पन्न होती है, आकाश में ही स्थित रहती है और आकाश में ही लीन हो जाती है अर्थात् वायु की स्वतन्त्र सत्ता न रहकर आकाश ही रह जाता है। ऐसे ही यह जीवात्मा परमात्मा से ही प्रकट होता है परमात्मा में ही स्थित रहता है और परमात्मा में ही लीन हो जाता है अर्थात् जीवात्माकी स्वतन्त्र सत्ता न रहकर केवल परमात्मा ही रह जाते हैं।

प्रस्तुत श्लोक में वायु और आकाश के माध्यम से परमात्मा के स्वरूप को समझाने का प्रयत्न किया गया है, जिस प्रकार वायु सर्वत्र फैली है किंतु उस का कोई स्वरूप नही। वह प्रकृति से गंध को ग्रहण कर सुगंधित या दूषित होती है, वही कभी मंद मंद तो कभी विकराल स्वरूप में बहती है, उसी प्रकार परमात्मा भी सभी स्वरूप में विद्यमान है, जो भी स्वरूप की हम कल्पना करते है या देखते है, वह प्रकृति का स्वरूप है। द्वितीय आकाश जिस में वायु स्थित है, वह अनंत है, वायु तो उसके छोटे से किसी भाग में है। आकाश को काटा, जलाया, तोड़ा या मरोड़ा नही जा सकता। आकाश सभी में स्थित है किंतु सभी आकाश भी नहीं है। आकाश का कोई स्वरूप, रंग या गुण नही है, फिर भी लोग उस में विभिन्न क्रियाएं होते देखते है। किंतु परब्रह्म में आकाश, काल, गति, स्थान सभी स्थित है।

यहां यह भी स्पष्ट करना गलत नहीं होगा कि कठोपनिषद में यम ने नचिकेता को जब परमात्मा के बारे में ज्ञान दिया तो अंत मे नेति नेति कह कर कहा कि परमात्मा के बारे में जो कुछ भी कहा गया वो सम्पूर्ण नही है वो इस सब से भी परे है। अतः उदाहरण अल्प ज्ञान को गति देने के लिये तो उचित है किंतु वो परमात्मा को एक दम सही उद्धरण नही

हो सकता । यदि इस को ले कर कोई शंका या तर्क करता है तो वो परमात्मा तत्व की बजाय व्यर्थ के बहस को ही जन्म देगा। जो निराकार, निर्गुण, सर्वव्यापी, अव्यक्त, शाश्वत, अद्वेत, सभी व्यक्त एवम अव्यक्त भूतों का आश्रयदाता, योगमाया एवम प्रकृति जिस के आधीन है, जो काल से परे है, उस को किसी भी उदाहरण से समझा भर जा सकता है किंतु तुलना नही की जा सकती। इसलिये परमात्मा के बारे में हम कितना भी पढ़ लिख ले, वह पूरा नही होगा, उसे तो श्रद्धा विश्वास और प्रेम से ही अनुभव किया जा सकता है। जैसे किसी रंग को कोई कैसे परिभाषित कर सकता है, वैसे परमात्मा तो उस से भी परे है।

मूलतः यह बातें पहले भी कही गयी है। यहाँ भगवान भक्ति मार्ग को स्पष्ट करने के लिये कुछ बातों को अधिक स्पष्ट करना के उद्देश्य से दोहराते है। परमात्मा ने अपने निर्गुण होने का परिचय देते हुए अपनी तुलना उस अनन्त आकाश से की है जिस का आदि न अंत है। प्रकृति को वायु से समान बताया। फिर इस इस प्रकृति की रचना की बताते है जिसे हम आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 9.06।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.7॥

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥

"sarva- bhūtāni kaunteya,
prakṛtiṁ yānti māmikām..।
kalpa-kṣaye punas tāni,
kalpādau visṛjāmy aham"..।।

भावार्थ:

हे कुन्तीपुत्र! कल्प के अन्त में सभी प्राणी मेरी प्रकृति (इच्छा-शक्ति) में प्रवेश करके विलीन हो जाते हैं और अगले कल्प के आरम्भ में उनको अपनी इच्छा-शक्ति (प्रकृति) से फिर उत्पन्न करता हूँ। (७)

Meaning:

All beings attain my Prakriti when an age ends, O Kaunteya. I project them again when (another) age begins.

Explanation:

Previously, Shri Krishna compared wind in space to the multitude of beings in Ishvara. Here, he asserts that all those beings go to Ishvara's Prakriti at the end of a "kalpa" or age. They then come back into existence when the kalpa starts all over again.

In the last chapter, Shri Krishna had explained the process of creation and dissolution. He spoke about the day and night of Lord Brahma. Here, he adds more detail by revealing the orchestrator of creation and dissolution. It is Prakriti. In an earlier context, this word was translated as nature. In this context, we will keep the original word since the meaning is a little different.

So here Krishna says, before creation of this universe, the universe was already existent in me, in unmanifest form or potential form; because nothing can be newly created. According to the law of conservation of matter and energy; nothing can be newly created; even an ounce of matter cannot be created by anyone including God. Even though God is omnipotent; even an ounce of matter cannot be created. Therefore God says, I do not create a world at all; the world was already existent in Me; but only difference is what; not in this unfolded manner. The world was existent in seed form; potential form; unmanifest form, just as a huge tree, existing within a seed; or as a baby exists in the womb of the mother. So when a look up at a grown up child; and the mother says. This is my son; that fellow is one foot above the mother. And then you wonder; how can such a big person be in the stomach of the mother; even though he is so big now; previously he was a tiny fetus, who was existing in unmanifest form. So in the DNA, they say information contained in the smallest DNA is so much, that 300 books of information can be extracted out of it; because the child's or the man's all

the features must be there encoded. If your hair has to turn grey at the 43rd year, remember it is already coded in your DNA.

Now, you can understand by Dream you see. What is dream? All the dream that you have are nothing but the impressions that you will have gathered from your observation and experience; You can never dream what you have not experienced; you can have a peculiar permutation combination. So the man- body and buffalo- head; the combination will be mind and brain might do; but you have experienced a buffalo; you have experienced a man; and if at all you say no no no; I saw something which I have never experienced; then I say you have forgotten it. And still if you claim; no no no; I have never experienced; I am damn sure; I say that you have experienced in your previous janma; because mind continues from previous janma; therefore today's dream is already in the waker, in what form?; in potential form. Today's dream of yours is already in your mind in potential form; already we VCR has worked; VCR means video cassette recorder. You have recorded in your mental tape, and the VCR operation will stop, the moment you go to bed. And VCR operation will be replaced by VCP. And what will be played; whatever has been recorded. Therefore, what I want to say is your dream is potentially there in you, the waker. Similarly, the dream like world is in Brahman; in unmanifest form; which is called māya or prakr̥ti.

Prakriti is a system that tracks the karmas or actions of each and every being in the universe. When every being's karma is exhausted, Shri Krishna, through the medium of Prakriti, begins the process of dissolution, just like we go to sleep when we exhaust all our actions for the day. When the time is right for the next set of actions to begin manifesting, Prakriti "wakes" up everyone and begins the process of creation.

Now, we notice that Shri Krishna does not use the word "create" here. Instead, he uses the word "project". Prakriti is similar to a movie projector in

that it does not create anything new, but projects names and forms on the screen, just like waves and foam in the ocean. As we saw earlier, creation and dissolution is a matter of perspective. A child only sees waves and foam. The adult, seeing the very same waves and foam, knows that it is ultimately water.

Similarly, creation and dissolution on a cosmic scale is “real” only if we get stuck at the level of names and forms. The jnyaani or the wise seeker sees the names and forms come and go, but knows that everything, ultimately, is only Ishvara. The difference between the jnyaani and everyone else is that the wise seeker’s perspective that comes from having the knowledge of Ishvara. This knowledge is paramount.

So then, what is the relationship between Ishvara, Prakriti and us? This is explained in the next shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व अध्याय को पुनवलोकन करते है तो हम ने पढ़ा था ब्रह्मा का दिन मनुष्य के 4.32 करोड़ दिन के बराबर होता है। ब्रह्मा दिन में सृष्टि की रचना करते है एवम रात्रि में सृष्टि उन में विलीन हो जाती है। ब्रह्मा का एक दिन एक कल्प होता है। ब्रह्मा की आयु 100 वर्ष की है अतः 100 वर्ष के बाद महाप्रलय होता है और समस्त सृष्टि परमात्मा में विलीन हो जाती है। इस को कल्पक्षय बोला गया है।

परमात्मा अपने निसर्ग होने के साथ अपनी क्रियाशीलता का परिचय भी देते हुए कहते है कि ब्रह्मा की रात्रि में समस्त प्रकृति उन में लीन हो जाती है एवम ब्रह्मा सोते है। तो दिन में पुनः उस का निर्माण वो ही करते है। कल्पक्षय में प्रकृति के साथ ब्रह्मा भी लीन हो जाते है। अर्थात सम्पूर्ण ब्रह्मांड परमात्मा में लीन हो जाता है।

पिछले दो श्लोकों में श्रीकृष्ण ने यह व्याख्या की है कि सभी जीव उन में स्थित रहते हैं। उन के इस कथन से यह प्रश्न उत्पन्न होता है-"जब महाप्रलय होती है तब समस्त संसार का संहार हो जाता है तब सभी प्राणी कहाँ जाते हैं?" इसका उत्तर इस श्लोक में दिया गया है।

कल्पो के अंत मे समस्त शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, भोग सामग्री और लोको के सहित समस्त प्राणियों का प्रकृति में लय हो जाना अर्थात उन के गुणकर्मो के संस्कार - समुदाय रूप कारण शरीर सहित उन का मूल प्रकृति में विलीन हो जाना ही सब भूतों का प्रकृति को प्राप्त होना है।

पिछले अध्याय के सोलहवें से उन्नीसवें श्लोक में श्रीकृष्ण ने यह स्पष्ट किया था कि सृजन, स्थिति तथा प्रलय के चक्र का पुनरावर्तन होता रहता है। यहाँ 'कल्पक्षये' शब्द का अर्थ 'ब्रह्मा के जीवन काल का अन्त है।' ब्रह्मा के जीवन के 100 वर्ष जोकि पृथ्वी के 311 खरब 40 अरब वर्ष के बराबर है, पूर्ण होने के पश्चात सभी ब्रह्माण्डीय अभिव्यक्तियाँ विघटित होकर अव्यक्त अवस्था में चली जाती हैं। पंच महाभूत पंच तन्मात्राओं में विलीन हो जाते हैं और पंच तन्मात्राएँ अहंकार में, अहंकार महान में और महान माया शक्ति के आदि रूप प्रकृति में विलीन हो जाती है और प्रकृति परम पिता महाविष्णु के दिव्य शरीर में विलीन होकर उनमें स्थित हो जाती है। उस समय भौतिक सृष्टि की सभी जीवात्माएँ अव्यक्त प्रसुप्त जीवंत अवस्था में भगवान के दिव्य शरीर में स्थित हो जाती हैं।

उनका स्थूल और सूक्ष्म शरीर जड़ माया में विलीन हो जाता है। किन्तु उनका कारण शरीर बना रहता है। श्लोक 2.28 में उल्लिखित टिप्पणी में तीन प्रकार के शरीरों का विस्तार से वर्णन किया गया है। प्रलय के पश्चात जब भगवान पुनः संसार की रचना करते हैं तब माया (भौतिक शक्ति) प्रकृति- महान- अहंकार- पंचतन्मात्राओं- पंचमहाभूतों को विपरीत क्रम में प्रकट करती है तब जो जीवात्माएँ केवल कारण शरीर के साथ जीवंत सुप्त अवस्था में पड़ी थी उन्हें पुनः संसार में भेजा जाता है। अपने कारण शरीर के अनुसार वे पुनः सूक्ष्म और स्थूल शरीर प्राप्त करती हैं और ब्रह्माण्ड में जीवों की विभिन्न योनियाँ उत्पन्न होती हैं।

बिग बैंग का सिद्धांत या God particle का सिद्धांत भी यहां से मिलता है कि कोई भी पदार्थ नया नही बनता, वह पहले से मौजूद है। क्रमिक विकास और संकुचन के अनुसार प्रकृति की प्रत्येक रचना छोटी से बड़ी हो कर पुनः छोटी हो जाती है। जीव एक भ्रूण के रूप में स्त्री के गर्भ में आता है और फिर जन्म ले कर बढ़ता है। यही पुनः भ्रूण में परिवर्तित होता है। वृक्ष भी बीज से बन कर पुनः बीज बन जाता है। वैसे ही ब्रह्म के गर्भ से पूरी सृष्टि की रचना सर्ग काल में होती है और प्रलय काल में सिमट कर एक कण के रूप में ब्रह्म में समा जाती है। इसलिए भगवान कल्प के अंत में संपूर्ण सृष्टि को अपने में समावेश करते है और अगले कल्प में पुनः उत्पन्न करते है।

महाप्रलय के समय अपने अपने कर्मों को लेकर प्रकृति में लीन हुए प्राणियों के कर्म जब परिपक्व होकर फल देने के लिये उन्मुख हो जाते हैं, तब प्रभु के मन में ऐसा संकल्प हो जाता है। यही महासर्ग का आरम्भ है। अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियों का जो होनापन है, उसको प्रकट करने के लिये भगवान् का जो संकल्प है। यही विसर्ग (त्याग) है और यही आदिकर्म है। तात्पर्य यह हुआ कि कल्पों के आदि में अर्थात् महासर्ग के आदि में ब्रह्माजी के प्रकट होने पर परमात्मा पुनः प्रकृति में लीन हुए, प्रकृति के परवश हुए, उन जीवों का उन के कर्मों के अनुसार उन उन योनियों (शरीरों) के साथ विशेष, सम्बन्ध करा देता है। क्योंकि परमात्मा अकर्ता है तो यह कार्य उस के अधीन प्रकृति ही करती है।

उदाहरण के तौर में स्वप्न सभी देखते है, स्वप्न वही है जो आप ने पूर्व में देखा या सोचा होगा, उस के अतिरिक्त कोई स्वप्न नही आ सकता है। इसलिए जब भी अप्रत्याशित स्वप्न आए तो समझ लेना यह अनुभव पूर्व जन्म का अनुभव होगा।

गीता स्वयं में एक एक श्लोक द्वारा स्पष्टीकरण करती है इस लिये हम ने पहले सृष्टि का ब्रह्मा में लीन होना पढ़ा, ब्रह्मा सहित समस्त सृष्टि के परमात्मा में महाप्रलय से लीन होना पढ़ा। अब परमात्मा द्वारा संकल्प मात्र से पुनः प्रकृति द्वारा सृष्टि के विभिन्न जीव की रचना करते हुए पढ़ रहे है।

प्रकृति की रचना परमात्मा किस प्रकार करता है यह हम आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।।9.07 ।।

।। आधुनिक विज्ञान और गीता ।। विशेष 9.07 ।।

ब्रह्मांड का इतिहास

ब्रह्मांड की उत्पत्ति, विकास और प्रकृति ने सदियों से मानव जाति को मोहित और भ्रमित किया है। 20वीं शताब्दी के दौरान किए गए नए विचारों और प्रमुख खोजों ने ब्रह्मांड विज्ञान को बदल दिया - जिस तरह से हम ब्रह्मांड की अवधारणा और अध्ययन करते हैं उसके लिए शब्द - हालांकि बहुत कुछ अज्ञात है। ब्रह्माण्ड विज्ञानियों के वर्तमान सिद्धांतों के अनुसार ब्रह्मांड का इतिहास यहां दिया गया है।

बिग बैंग इन्फोग्राफिक, बिग बैंग के इतिहास और ब्रह्मांड के निर्माण खंडों के निर्माण की समयरेखा दिखा रहा है।

लौकिक मुद्रास्फीति

लगभग 13.8 अरब वर्ष पहले, ब्रह्मांड एक सेकंड के एक अंश के लिए प्रकाश की गति से भी अधिक तेजी से विस्तारित हुआ, इस अवधि को ब्रह्मांडीय मुद्रास्फीति कहा जाता है। वैज्ञानिक निश्चित नहीं हैं कि मुद्रास्फीति से पहले क्या आया या इसे किसने संचालित किया। यह संभव है कि इस अवधि के दौरान ऊर्जा अंतरिक्ष-समय के ताने-बाने का सिर्फ एक हिस्सा थी। ब्रह्माण्ड विज्ञानियों का मानना है कि मुद्रास्फीति ब्रह्माण्ड के कई पहलुओं की व्याख्या करती है जिन्हें हम आज देखते हैं, जैसे कि इसकी सपाटता, या सबसे बड़े पैमाने पर वक्रता की कमी। मुद्रास्फीति ने घनत्व अंतर को भी बढ़ाया हो सकता है जो स्वाभाविक रूप से अंतरिक्ष के सबसे छोटे, क्वांटम-स्तर के पैमाने पर होता है, जिसने अंततः ब्रह्मांड की बड़े पैमाने की संरचनाओं को बनाने में मदद की।

बिग बैंग और न्यूक्लियोसिंथेसिस

जब ब्रह्मांडीय मुद्रास्फीति रुक गई, तो इसे चलाने वाली ऊर्जा पदार्थ और प्रकाश में स्थानांतरित हो गई - बड़ा धमाका। महाविस्फोट के एक सेकंड बाद, ब्रह्मांड में प्रकाश और कणों का अत्यंत गर्म (18 अरब डिग्री फ़ारेनहाइट या 10 अरब डिग्री सेल्सियस) मौलिक सूप शामिल था। अगले मिनटों में, न्यूक्लियोसिंथेसिस नामक एक युग में, प्रोटॉन और न्यूट्रॉन टकराए और सबसे पुराने तत्वों का उत्पादन किया - हाइड्रोजन, हीलियम, और लिथियम और बेरिलियम के निशान। पांच मिनट के बाद, आज के अधिकांश हीलियम का निर्माण हो गया था, और ब्रह्मांड इतना विस्तारित और ठंडा हो गया था कि आगे के तत्वों का निर्माण बंद हो गया। हालाँकि, इस बिंदु पर, ब्रह्मांड अभी भी इन तत्वों के परमाणु नाभिकों के लिए इलेक्ट्रॉनों को पकड़ने और पूर्ण परमाणु बनाने के लिए बहुत गर्म था। ब्रह्मांड अपारदर्शी था क्योंकि बड़ी संख्या में इलेक्ट्रॉनों ने एक प्रकार का कोहरा बनाया था जिससे प्रकाश बिखर गया था।

पुनर्संयोजन

बिग बैंग के लगभग 380,000 वर्ष बाद, ब्रह्मांड इतना ठंडा हो गया था कि परमाणु नाभिक इलेक्ट्रॉनों को ग्रहण कर सके, इस अवधि को खगोलशास्त्री पुनर्संयोजन का युग कहते हैं।

ब्रह्मांड पर इसके दो प्रमुख प्रभाव पड़े। सबसे पहले, अधिकांश इलेक्ट्रॉन अब परमाणुओं में बंधे हुए हैं, प्रकाश को पूरी तरह से बिखेरने के लिए पर्याप्त स्वतंत्र नहीं रह गए हैं, और ब्रह्मांडीय कोहरा साफ हो गया है। ब्रह्मांड पारदर्शी हो गया, और पहली बार, प्रकाश स्वतंत्र रूप से लंबी दूरी तक यात्रा कर सका। दूसरा, इन प्रथम परमाणुओं के निर्माण से अपना स्वयं का प्रकाश उत्पन्न हुआ। यह चमक, जो आज भी पहचानी जा सकती है, कॉस्मिक माइक्रोवेव बैकग्राउंड कहलाती है। यह सबसे पुराना प्रकाश है जिसे हम ब्रह्मांड में देख सकते हैं।

अंधकार युग

ब्रह्मांडीय माइक्रोवेव पृष्ठभूमि के बाद, उन सभी हाइड्रोजन परमाणुओं के अवशोषित प्रभावों के कारण ब्रह्मांड फिर से छोटी तरंग दैर्ध्य पर अपारदर्शी हो गया। अगले 200 मिलियन वर्षों तक ब्रह्मांड अंधकारमय रहा। चमकने के लिए कोई सितारे नहीं थे। इस बिंदु पर ब्रह्मांड में हाइड्रोजन परमाणुओं, हीलियम और भारी तत्वों की थोड़ी मात्रा का समुद्र शामिल था।

प्रथम सितारे

पूरे ब्रह्मांड में गैस समान रूप से वितरित नहीं थी। अंतरिक्ष के ठंडे क्षेत्र गैस के घने बादलों के साथ ढेलेदार थे। जैसे-जैसे ये गुच्छे अधिक विशाल होते गए, उनके गुरुत्वाकर्षण ने अतिरिक्त पदार्थ को आकर्षित किया। जैसे-जैसे वे सघन होते गए, और अधिक सघन होते गए, इन गुच्छों के केंद्र अधिक गर्म होते गए - अंततः इतने गर्म हो गए कि उनके केंद्रों में परमाणु संलयन हो गया। ये पहले सितारे थे. वे हमारे सूर्य से 30 से 300 गुना अधिक विशाल और लाखों गुना अधिक चमकीले थे। कई सौ मिलियन वर्षों में, पहले तारे पहली आकाशगंगाओं में एकत्रित हुए।

शिशु ब्रह्मांड का ताप मानचित्र

ब्रह्मांडीय माइक्रोवेव पृष्ठभूमि की इस विस्तृत, संपूर्ण आकाशीय छवि को बनाने के लिए वैज्ञानिकों ने नासा के विल्किंसन माइक्रोवेव अनिसोट्रॉपी जांच के नौ साल के डेटा का उपयोग किया। छवि 13.8 अरब वर्ष पुराने तापमान में उतार-चढ़ाव (विभिन्न रंगों के रूप में दिखाया गया है) को दर्शाती है - बीज जो विकसित होकर आकाशगंगाओं में बदल गए जिन्हें हम आज देखते हैं।

पुनर्आयनीकरण

सबसे पहले, तारों का प्रकाश दूर तक नहीं जा सका क्योंकि यह पहले तारों के आसपास अपेक्षाकृत घनी गैस द्वारा बिखरा हुआ था। धीरे-धीरे, इन तारों द्वारा उत्सर्जित पराबैंगनी प्रकाश, गैस में हाइड्रोजन परमाणुओं को उनके घटक इलेक्ट्रॉनों और प्रोटॉन में तोड़ दिया, या आयनित कर दिया। जैसे-जैसे यह पुनर्आयनीकरण आगे बढ़ा, तारों का प्रकाश अधिक दूर तक चला गया और अधिक से अधिक हाइड्रोजन परमाणुओं को तोड़ता गया। जब ब्रह्मांड 1 अरब वर्ष पुराना था, तब तक तारों और आकाशगंगाओं ने लगभग सभी गैसों को बदल दिया था, जिससे ब्रह्मांड प्रकाश के लिए पारदर्शी हो गया था जैसा कि हम आज देखते हैं।

भविष्य

कई वर्षों तक, वैज्ञानिकों ने सोचा कि ब्रह्मांड का वर्तमान विस्तार धीमा हो रहा है। लेकिन वास्तव में, ब्रह्मांडीय विस्तार तेज़ हो रहा है। 1998 में, खगोलविदों ने पाया कि कुछ सुपरनोवा, चमकीले तारकीय विस्फोट, अपेक्षा से कमज़ोर थे। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि ऐसा तभी हो सकता है जब सुपरनोवा अनुमान से अधिक तेज गति से दूर चला गया हो।

वैज्ञानिकों को संदेह है कि एक रहस्यमय पदार्थ जिसे वे डार्क एनर्जी कहते हैं, तेजी से विस्तार कर रहा है। भविष्य के शोध से नए आश्चर्य सामने आ सकते हैं, लेकिन ब्रह्मांड विज्ञानियों का सुझाव है कि यह संभावना है कि ब्रह्मांड हमेशा के लिए विस्तारित होता रहेगा।

आधुनिक विज्ञान और वेदांत

वेदों और उपनिषदों में ब्रह्म और परब्रह्म का वर्णन और ब्रह्मांड के विषय में जितनी भी जानकारी मिलती है, उस में ऋग्वेद के नासदिय सूक्त भी है जो यह बताता है कि भारतीय दर्शन विज्ञान में चाहे आज के समान साधन युक्त नही भी हो, किंतु जो भी जानकारी श्रुतियों में उपलब्ध है, वह काल्पनिक नहीं हो कर सटीक है। क्योंकि वेदांत दर्शन और नालंदा विश्व विद्यालय के नष्ट होने जो कुछ भी अभी उपलब्ध है, वह टुकड़े टुकड़े में है। उसे राजनीतिज्ञों ने अपभ्रंश और नष्ट भी किया है, इसलिए उस समय का संपूर्ण ज्ञान उपलब्ध भी नही है। इसलिए हमारे ऋषि मुनि कितने साधन संपन्न रहे होंगे, यह पता नही।

।। हरि ॐ तत् सत् ।। विशेष 9. 07 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.8॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥

"prakṛtiṁ svām avaṣṭabhya,
visṛjāmi punaḥ punaḥ..।
bhūta-grāmam imaṁ kṛtsnam,
avaśaṁ prakṛter vaśāt"..।।

भावार्थ:

चौरासी लाख योनियाँ में सभी प्राणी अपनी इच्छा-शक्ति (प्रकृति) के कारण बार-बार मेरी इच्छा-शक्ति से विलीन और उत्पन्न होते रहते हैं, यह सभी पूर्ण-रूप से स्वत: ही मेरी इच्छा-शक्ति (प्रकृति) के अधीन होते है। (८)

Meaning:

Commanding my Prakriti, I repeatedly project this entire world of beings, which is helpless under the control of Prakriti.

Explanation:

Shri Krishna describes the workings of Prakriti in this shloka. Prakriti is Ishvara's projector. It projects an entire universe of names and forms at the beginning of a cycle, withdraws them at the end of the cycle, only to start it all over again. We saw this in the previous shlokas. Here, we investigate the relationship between Prakriti, Ishvara and the individual.

Let's first look at the relationship between Ishvara and Prakriti. Shri Krishna says that Ishvara fully controls Prakriti. He is the commander of Prakriti. Prakriti cannot do anything without the command of Ishvara. However, Ishvara is not a micro- manager. He does not tell Prakriti how to do its job. He just sets the rules in motion. Prakriti is a system that follows the rules, just like a computer program or the autopilot in an aircraft.

How does this work? We know that Prakriti, which is a synonym for maaya, comprises the three gunaas or modes. Each guna will deliver results based on its inherent property. For example, if our personality is predominantly comprised of rajas, we will always be in an agitated state, which will result in haphazard work. But if our personality is saatvic, it will result in perfect work. Notice that there is no need for Ishvara to "do" anything since Prakriti is an automatic system.

At that time, all the souls within the material creation also go and rest in the body of God, in a state of suspended animation. Their gross and subtle bodies merge back into the source, Maya. However, the causal body still remains. (The three kinds of bodies have been described in detail in the commentary to verse 2.28) After dissolution, when God creates the world again, the material energy unwinds in the reverse sequence prakṛiti– mahān-ahankār– pañch tanmātrā– pañch mahābhūta. Then, the souls that were lying in a state of suspended animation with only causal bodies are again placed in the world. In accordance with their causal bodies, they again receive subtle and gross bodies, and the various life forms are created in the universe. These life forms vary in nature amongst the different planes of existence. In some planetary systems, fire is the dominant element in the body, just as in the earth plane, the dominant bodily elements are earth and water. Hence, the bodies vary in their subtleness and the functions they can perform. Shree Krishna thus calls them myriad life forms.

In a cyclic process I repeatedly create this world. So that is why very important. In Vēdānta, creation is a cyclic process; it is not a linear process. Vēdānta we say creation is a eternal cycle; manifest and unmanifest, manifest unmanifest and cycle does not have a beginning or end; a line has a beginning and end point, a circle does not have a beginning or end; and

therefore never ask the question; when did the creation begin. Therefore the question; when did the creation originate, is illogical and therefore Krishna says, it has been on and on and on and on and on so aham punaḥ punaḥ visṛjāmi.

Next, let us look at the nature of Prakriti and the individual. Shri Krishna says that the individual is under the complete control of Prakriti. He helplessly goes through infinite cycles of birth and death due to the influence of Prakriti. In our own lives, we know so many people that are hale and hearty one moment and are killed by an accident in the next moment. They have no say in the matter whatsoever. The only way one can get out of Prakriti's influence is to put forth effort towards achieving liberation.

I cannot dream. For dream to come I require what; some imprint in the mind is required. Similarly, Brahman cannot create; unless the creation is there in potential form; that potential form is called prakṛ̥ti. It is like the big wheel; giant wheel; it is switched on; it will go on and on; you cannot stop the giant wheel; but you can jump out of it; that is called mōkṣa. There is no switch off; no off switch; it will be going on; only you jump out. How we shall in forthcoming chapters.

Now, we know that Ishvara commands Prakriti to perform creation, sustenance and dissolution. In the chapter on karma yoga, we have seen that actions have a tendency to bind us, to make us get attached to them. Does Ishvara get attached to the actions of creation, sustenance and dissolution? We shall see in the next shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

इस सृष्टि की रचना में सांख्य योग ने प्रकृति और जीव दो अलग अलग स्वतंत्र सत्ता मानी, किन्तु वेदान्त एवम गीता में प्रकृति की कोई अलग सत्ता न हो कर परब्रह्म का ही संकल्प माना गया। संपूर्ण रचना ब्रह्मा की रात्रि में प्रलय में समाहित हो कर ब्रह्म में लीन हो जाती

है और ब्रह्मा के दिन में पुनः विसर्ग द्वारा रची जाती है। जीव अपने अपने कर्मफलों के कारण अनेक योनियों में जन्म-मरण को प्राप्त होते है। प्रकृति सत-रज-तम गुणों से जीव को भ्रमित कर के संसार की ओर कर्तृत्व एवम भोक्तत्व भाव से आकर्षित एवम बांधे रखती है। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया नियम बद्ध तरीके से योग माया से प्रकृति द्वारा चलती है। जो परमात्मा के अधीन है। अतः ब्रह्मांड की समस्त क्रियाओं का उत्तरदायित्व प्रकृति पर डाल कर परब्रह्म कर्ता होते हुए भी अकर्त्ता ही रहता है। ब्रह्मा की आयु 100 वर्ष, फिर यह रचना महाप्रलय द्वारा परब्रह्म में समाहित हो जाती है और पुनः परब्रह्म संकल्प द्वारा रची जाती है। अतः विसर्ग-प्रलय परब्रह्म की निरंतर प्रक्रिया का अभेद्य चक्र है, जो जीव के करोड़ो वर्षो से चल रही है। इस चक्र से मुक्ति अर्थात मोक्ष का मार्ग चक्र से बाहर निकलना है, वह भी कैसे?, इसे हम आगे पढ़ेंगे। अभी मुक्ति में कर्म मुक्ति और मोक्ष के लिए जीव मुक्ति को हम ने कुछ कुछ जाना है। यह जीव मुक्ति ही मोक्ष है।

खगोल शास्त्र गीता के कथन की पुष्टि ब्रह्मांड की रचना के अध्ययन से कर रहा है, अतः यह श्लोक एक विज्ञान सम्मत तथ्य ही है।

महाप्रलय के समय सभी प्राणी अपनी व्यष्टि प्रकृति में लीन हो जाते हैं। व्यष्टि प्रकृति समष्टि प्रकृति में लीन होती है और समष्टि प्रकृति परमात्मा में लीन हो जाती है। परन्तु जब महासर्ग का समय आता है। तब जीवों के कर्मफल देने के लिये उन्मुख हो जाते हैं। उस उन्मुखता के कारण भगवान् में यह संकल्प होता है। जिस से समष्टि प्रकृति में क्षोभ (हलचल) पैदा हो जाता है। भगवान् के संकल्प से प्रकृति में क्षोभ हुआ तो प्रकृति से सात्त्विक, राजस और तामस -ये तीनों गुण पैदा हो गये। उन तीनों गुणों से स्वर्ग, मृत्यु और पाताल - ये तीनों लोक पैदा हुए। उन तीनों लोकों में भी अपने अपने गुण, कर्म और स्वभाव से सात्त्विक, राजस और तामस जीव पैदा हुए अर्थात् कोई सत्त्वप्रधान हैं, कोई रजःप्रधान हैं और कोई तमःप्रधान हैं। जीव के तीन शरीर प्रकृति से प्रदत्त है, जिसे हम सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर और कारण शरीर कह सकते है। कारण शरीर ही वह जीवाश्म है जो प्रलय के समय ब्रह्म में लीन होता है और सर्ग में पुनः प्रकट हो जाता है।

कहते है आत्म हत्या करना पाप है, उस का कारण है कि प्रकृति की भावनाओ में विवेक खो कर जीव 84 लाख योनियों में प्रदत्त मनुष्य शरीर को मोक्ष की अपेक्षा प्रकृति के गुणों में भी अज्ञान से रहता है, तो यह जन्म - मरण से चक्र से मुक्ति नही होने के अवसर को खो कर आत्म हत्या के समान ही व्यवहार करता है।

ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण घोषणा करते हैं कि सृष्टिकर्ता और सृष्टप्रणियों की चेतन आत्मा मैं हूँ। समष्टि सूक्ष्म शरीर रूपी उपाधि ब्रह्म की अपरा प्रकृति है। कल्प के आदि में अपरा प्रकृति में विद्यमान वासनायें व्यक्त होती हैं और कल्प की समाप्ति पर सब भूत मेरी प्रकृति में लीन हो जाते हैं। प्रकृति को चेतना प्रदान करने की क्रिया ब्रह्म की कृपा है जिस से प्रकृति वृद्धि को प्राप्त होकर संसार वृक्ष का रूप धारण करती है। यदि परम चैतन्यस्वरूप ब्रह्म प्रकृति (माया) से तादात्म्य न करे अथवा उस में व्यक्त न हो तो वह प्रकृति स्वयं जड़ होने के कारण किसी भी जीव की सृष्टि नहीं कर सकती। वासनारूपी इस सम्पूर्ण भूतसमुदाय को मैं पुनपुन रचता हूँ। आत्मा की चेतनता प्राप्त होने के पश्चात् भूतमात्र व्यक्त हुए बिना नहीं रह सकते क्योंकि वे प्रकृति के वश में हैं, स्वतन्त्र नहीं।

ये जीव महाप्रलय के समय प्रकृति में लीन हुए थे, तो तत्त्वतः प्रकृति का कार्य प्रकृति में लीन हुआ था और परमात्मा का अंश चेतनसमुदाय परमात्मा में लीन हुआ था। परन्तु वह चेतन समुदाय अपने गुणों और कर्मों के संस्कारों को साथ लेकर ही परमात्मा में लीन हुआ था। इसलिये परमात्मा में लीन होने पर भी वह मुक्त,नहीं हुआ। अगर वह लीन होने से पहले गुणों का त्याग कर देता, तो परमात्मा में लीन होने पर सदा के लिये मुक्त हो जाता। जन्ममरण रूप बन्धन से छूट जाता। उन गुणों का त्याग न करने से ही उस का महासर्ग के आदि में अलगअलग योनियों के शरीरों के साथ सम्बन्ध हो जाता है अर्थात् अलग अलग योनियों में जन्म हो जाता है।अलग अलग योनियों में जन्म होने में इस चेतनसमुदाय की व्यष्टि प्रकृति अर्थात् गुण, कर्म आदि से माने हुए स्वभाव की परवशता ही कारण है। वह जन्म होने के बाद की परवशता है। अपरा प्रकृति के अंश रूप मन और बुद्धि से आत्मचैतन्य का तादात्म्य हुए बिना हम में एक विशिष्ट गुणधर्मी जीव की उत्पत्ति नहीं हो सकती, जो अपने संसारी जीवन के दुखों को भोगता रहता है।

हम पहले भी देख चुके हैं कि निद्रावस्था में मनबुद्धि के साथ तादात्म्य अभाव में एक अत्यन्त दुष्ट पुरुष और एक महात्मा पुरुष दोनों एक समान होते हैं। परन्तु जाग्रत अवस्था में दोनों अपने अपने स्वभाव को व्यक्त करते हैं। जबकि दोनों में वही एक आत्मचैतन्य व्यक्त होता है। दुष्ट मनुष्य साधु के समान क्षणमात्र भी व्यवहार नहीं कर सकता और न वह साधु ही उस दुष्ट के समान व्यवहार करेगा। क्योंकि दोनों ही अपनी प्रकृति के वशात् अन्यथा व्यवहार करने में असमर्थ हैं। भूत समुदाय की सृष्टि और प्रलय का यह सम्पूर्ण नाटक अपरिवर्तनशील, अक्षर नित्य आत्मतत्त्व के रंगमंच पर खेला जाता है मैं पुनपुन उसको रचता हूँ। कर्म का सिद्धांत विवादातीत है। जैसा कर्म वैसा फल। प्रकृति परमात्मा की एक

अनिर्वचनीय अलौकिक विलक्षण शक्ति है। इसको परमात्मा से भिन्न भी नहीं कह सकते और अभिन्न भी नहीं कह सकते। ऐसी अपनी प्रकृति को स्वीकार कर के परमात्मा महासर्ग के आदि में प्रकृति के परवश हुए जीवों की रचना करते हैं।

परमात्मा प्रकृति को लेकर ही सृष्टि की रचना करते हैं, प्रकृति के बिना नहीं। कारण कि सृष्टि में जो परिवर्तन होता है, उत्पत्ति विनाश होता है, वह सब प्रकृति में ही होता है, भगवान् में नहीं। अतः भगवान् क्रियाशील प्रकृति को लेकर ही सृष्टि की रचना करते हैं। इस में भगवान् की कोई असमर्थता, पराधीनता, अभाव, कमजोरी आदि नहीं है। जैसे मनुष्य के द्वारा विभिन्न कार्य होते हैं, तो वे विभिन्न करण, उपकरण, इन्द्रियों और वृत्तियों से होते हैं। पर यह मनुष्य की कमजोरी नहीं है। प्रत्युत यह उसका इन करण, उपकरण आदि पर आधिपत्य है। जिस से वह इन के द्वारा कर्म करा लेता है। ऐसे ही भगवान् सृष्टि की रचना करते हैं तो उन का प्रकृति पर आधिपत्य ही सिद्ध होता है। पर आधिपत्य होने पर भी भगवान् में लिप्तता आदि नहीं होती।

प्रस्तुत श्लोक परब्रह्म की कार्यप्रणाली दर्शाता है, कि रचना में सभी नियम, कायदे, कर्म-फल एवम कार्य -कारण का संचालन परब्रह्म द्वारा रचित प्रकृति के आधीन है, जैसा हम ने पूर्व श्लोक में कारखाने के मालिक के उदाहरण में समझा था। मालिक कुछ नही करता किन्तु कारखाना उसी के बनाये नियम पर चलता है।

भगवान द्वारा यह कार्य किस भाव द्वारा होता है यह हम आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 9.08।।

।। जीव और सृष्टि ।। विशेष - गीता 9.08 ।।

जीव दृष्टा है और जो सामने होता है वह दृश्य है। दृश्य में बाहर के पंच इन्द्रियों से रूप, रंग, रस आदि और अध्यात्म में इन्द्रिय, मन और बुद्धि कह सकते है और दृष्टा यह चेतन स्वरूप है। चेतन प्रकृति के सत्व, रज और तम द्वारा दृश्य का अवलोकन क्रमशः प्रकाश, क्रिया एवम कर्म और ठहर कर प्रकाश, क्रिया और कर्म को रोकना है। हम जो भी पढ़ते, लिखते या श्रवण करते है, उसी का मनन करते है। सांसारिक ज्ञान पढ़ने से संसार का, धर्म के ज्ञान से अनुष्ठान का, तप और उपासना से स्मरण का, योग से अभ्यास का और

तत्वज्ञान से मनन करते है। अतः जब तक दृष्टा का लक्ष्य मोक्ष न हो, वह प्रकृति के अधीन विभिन्न स्वरूप और योनियों में जन्म-मरण करता रहता है। मनुष्य ही लाखो तरह है, जीवन व्यतीत करते है तो यह चेतन भी दृश्य में रम जाने से विभिन्न योनियों में भ्रमण करता रहता है। सारांश यही की जब तक तत्वज्ञान का श्रवण एवम मनन नही किया जाए, जीव प्रकृति के आधीन ही विसर्ग एवम प्रलय में चौरासी लाख योनियों में विचरता रहता है।

परमात्मा की उपासना उस के सगुण एवम निर्गुण दोनों स्वरूप में की गई है। अव्यक्त परमात्मा का सगुण वर्णन इस प्रकार है कि वह मनोमय, प्राण शरीर, भारूप, सत्यसंकल्प, आकाश आत्मा, सर्व कर्मा, सर्वकाम, सर्व गंध और सर्वरस है। तैत्तिरीय उपनिषद में तो अन्न, प्राण, मन , ज्ञान या आनन्द इन रूपो में भी परमात्मा की उपासना बढ़ते हुई बताई गई है।

परमात्मा निर्गुण ही माना गया है अतः उपासना सगुण, सगुण -निर्गुण और फिर निर्गुण की ओर बढ़ती है। अब यदि परमात्मा निर्गुण है तो वो न तो दृश्य है, न ही कर्ता एवम न ही भोक्ता है। उस को इन सब से परे उदासीन कहा गया है। जो अकर्ता है वो सृजन कैसे करेगा इस लिये प्रकृति को मध्य में रख कर परमात्मा की क्रियाशीलता को वर्णित गया है। प्रकृति को परमात्मा का संकल्प माना जाए तो प्रकृति अपने त्रियामी गुण सत- रज- तम के द्वारा माया की रचना करती है एवम परमात्मा के अधीन कार्य करती है जिस में परा प्रकृति के रूप में परमात्मा का ही अंश जीव रहता है

अपरा प्रकृति के आठ भाग बताए गए है, जल, नभ, थल, वायु, अग्नि, मन, बुद्धि एवम अहंकार। इस मे परा प्रकृति के प्रवेश से चेतना आदि है। अपरा प्रकृति के इन आठ तत्व को विभिन्न मात्रा में समावेश करने से विभिन्न प्रकार के जीव का निर्माण होता है जिन्हें हम थलचर, नभचर एवम जलचर के नाम से जानते है।

जीव अपनी इंद्रियाओ द्वारा देखता, सुनता, सूंघता, स्पर्श करता एवम स्वाद ग्रहण करता है। किंतु इंद्रियां मात्र अपना कार्य करती है, उसे कैसे मालूम की यह पदार्थ है या कोई जीव या पदार्थ गीला है, सूखा है, इस का क्या रंग है आदि आदि। वो बस अपना संदेश मन को देती है, मन के बिना इंद्रियां एक जड़ की भांति है, जो महसूस तो कर सकती है किंतु उस को व्यक्त नही कर सकती। मन विभिन्न संदेशो को नाम देता है कि यह प्रकाश है, यह गीला है, यह चिकना है, यह अंधकार है आदि आदि। मन मे संचित किसी भी पदार्थ का इंद्रियाओ द्वारा प्राप्त संदेश का संचय कर के पदार्थ के गुण को पहचान लेता है। इस को मन के संस्कार कहते है। हमारे अनुभव एवम इंद्रियाओ द्वारा हमे विभिन्न प्रकार के आकार, प्रकार

के अनुभव मिलते है। इस प्रकार इंद्रियाओ से प्राप्त सूचनाओं को मन अपने संस्कार से भी निर्णय की स्थिति पर पहुचा देता है जैसे अग्नि देखते ही मन सावधान करके उस से दूर कर देता है।

इस को मन बुद्धि को देता है। बुद्धि इन का नाम करण करती है जैसे मिट्टी का गोल, एक मुखी पक्का हुआ पदार्थ को उस ने घड़ा नाम दिया। एक विशेष आकार की जीव आकृति को उस ने हाथी नाम दिया। इस मे एक विशिष्ट आकृति का पुरुष या नारी जैसे ही इंद्रियाओ के समक्ष आती है तो मन उस आकृति का संचित गुणों से तुलना कर के बुद्धि को भेजता है, बुद्धि उस आकृति की पहचान संचित नाम से कर के उसे किसान या सैनिक या राम-श्याम आदि से पहचान लेती है। इस प्रकार बुद्धि द्वारा इंद्रियाओ एवम मन से ग्रहण की हर वस्तु को नाम दिया गया चाहे वो भावनात्मक हो, भौतिक हो, गतिशील हो आदि आदि । यह बुद्धि का संस्कार है। इंद्रियां से मन और मन से बुद्धि फिर उस का नामकरण यह ही जीव से मन एवम बुद्धि के संस्कार होते है। जीव बुद्धि द्वारा ही वस्तु के उपयोग की उपयोगिता को तय करता है। इस बात की सिद्धता हम छोटे बच्चे की गतिविधियों से कर सकते है कि वो किस प्रकार हर चीज स्वाद, स्वर, वस्तु, स्थान आदि को सीखता है।

प्राणियों में मनुष्य बुद्धि की पर्याप्त मात्रा में होने से मनन शील एवम सामाजिक भी हुआ। अतः बुद्धि द्वारा दिये गए नामो को ज्ञान द्वारा वितरित करता है जिस से उस स्थान या प्रदेश के लोग की बुद्धि में एकरूपता हो। यही ज्ञान शिक्षा कहलाती है। भाषा एवम अक्षर ज्ञान इसी बुद्धि की देन है जिस से नाम रूप में समरसता पैदा हो।

इस को उपभोग जीव करता है। जीव की उपभोग की प्रवृति से भावनात्मक स्वरूप में सुख दुख आदि प्राप्त करता है एवम कर्तृत्व भाव एवम भोक्तव भाव से उसे ग्रहण करने से उस मे अहम या कर्ता भाव मे आ जाता है। उपभोग की प्रवृति से अहम, दया, काम, लोभ त्याग आदि प्रवृतियां जन्म लेती है। यह ही जीव का संस्कार है और यह ही कर्म बंधन है जो जीव को परमात्मा से पृथक कर देता है। यही मन, बुद्धि एवम कर्मबंधन के संस्कार जीव को परमात्मा में लीन होने से रोकते है। जीव इन संस्कारों के साथ जन्म मरण के क्रम में तब तक चलता है जब तक वो निष्काम हो एक मात्र परमात्मा में लीन होने के कर्म करे। अन्यथा महाप्रलय के बाद भी सृष्टि के रचना करते वक्त वो पुनः नए जीव के रूप में जन्म लेता है।

यह अनन्त ज्ञान का विवेचन है जिसे अत्यन्त संक्षेप में प्रस्तुत किया है जिस से प्रकृति, उस के गुण एवम उसे के कार्यो को समझने में सुविधा हो। मन एवम बुद्धि के संस्कार अनुवांशिक होने से बतख के बच्चे को तैरना नही सिखाना पड़ता।। अतः मन, बुद्धि एवम कामनाओं के अनुसार ही प्रकृति जन्म मरण में जीव का अगला शरीर निश्चित करती है जिसे परमात्मा उस के द्वारा करता है एवम स्वयं अकर्ता ही बना रहता है।

बिना अनुभव के ज्ञान नही होता है, मृत्यु का भय हर जीव को होता है। यह अनुभव यही सिद्ध करता है कि मृत्यु कष्टप्रद है और पूर्वजन्म के अनुभवों के आधार पर हर जीव मृत्यु से भयभीत है। केवल जिस ने प्रकृति से अपना मोह त्याग दिया है, वही मृत्यु स्वीकार कर सकता है। इसी प्रकार जीवन की प्रत्येक क्रिया हमारे ज्ञान पर आधारित है कि हम किस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करते है। तत्वज्ञान के बिना मनन एवम निदिध्यासन के बिना मनन के मुक्ति का कोई मार्ग नही है।

स्वामी विवेकानन्द सृजन की शक्ति के बारे में और अधिक बताते हैं:

हम अपने चारों ओर जो कुछ भी देखते हैं, महसूस करते हैं, स्पर्श करते हैं, स्वाद लेते हैं, वह बस इस आकाश की एक अलग अभिव्यक्ति है। यह सर्वव्यापी है, ठीक है। वे सभी जिन्हें हम ठोस, तरल पदार्थ या गैसें, आकृतियाँ, रूप या पिंड कहते हैं, पृथ्वी, सूर्य, चंद्रमा और तारे - सब कुछ इस आकाश से बना है।

वह कौन सी शक्ति है जो इस आकाश पर कार्य करती है और इससे इस ब्रह्मांड का निर्माण करती है? आकाश के साथ-साथ सार्वभौमिक शक्ति विद्यमान है; ब्रह्मांड में जो कुछ भी शक्ति है, जो बल या आकर्षण के रूप में प्रकट होती है - बल्कि विचार के रूप में भी - उस एक शक्ति की एक अलग अभिव्यक्ति है जिसे हिंदू प्राण कहते हैं। यह प्राण, आकाश पर कार्य करते हुए, इस संपूर्ण ब्रह्मांड का निर्माण कर रहा है। एक चक्र की शुरुआत में, यह प्राण, मानो, आकाश के अनंत सागर में सोता है। प्रारंभ में यह गतिहीन रूप से अस्तित्व में था। फिर इस प्राण की क्रिया से आकाश सागर में गति उत्पन्न होती है, और जैसे ही यह प्राण गति करना, कंपन करना शुरू करता है, इस महासागर से विभिन्न खगोलीय मंडल, सूर्य, चंद्रमा, तारे, पृथ्वी, मनुष्य, जानवर, पौधे आते हैं। , और सभी विभिन्न शक्तियों और घटनाओं की अभिव्यक्ति। इसलिए, शक्ति की प्रत्येक अभिव्यक्ति, उनके अनुसार, यह प्राण है। प्रत्येक भौतिक अभिव्यक्ति आकाश है। जब यह चक्र समाप्त हो जाएगा, तो जिसे हम ठोस कहते हैं वह पिघलकर अगले रूप, अगले सूक्ष्म या तरल रूप में बदल जाएगा; वह

गैसीय में पिघल जाएगा, और वह महीन और अधिक समान ताप कंपन में बदल जाएगा, और सभी मूल आकाश में वापस पिघल जाएंगे, और जिसे हम अब आकर्षण, प्रतिकर्षण और गति कहते हैं, वह धीरे-धीरे मूल प्राण में विलीन हो जाएगा। फिर इस प्राण को एक अवधि के लिए सोने, फिर से उभरने और इन सभी रूपों को बाहर फेंकने के लिए कहा जाता है, और जब यह अवधि समाप्त हो जाएगी, तो पूरी चीज़ फिर से शांत हो जाएगी।

इस प्रकार सृजन की यह प्रक्रिया आगे और पीछे की ओर दोलन करते हुए नीचे की ओर जा रही है, और ऊपर आ रही है। आधुनिक विज्ञान की भाषा में कहें तो एक काल में यह स्थिर हो रहा है, तो दूसरे काल में गतिशील हो रहा है। एक समय यह संभावित हो जाता है और अगले ही समय यह सक्रिय हो जाता है। यह परिवर्तन अनंत काल तक चलता रहा है।

भारत के दार्शनिकों के अनुसार, दो मूल सामग्रियों - प्राण (प्राथमिक ऊर्जा) और आकाश (प्राथमिक पदार्थ) से संपूर्ण ब्रह्मांड बना है। सृजन की प्रक्रिया क्रमिक थी। स्वामी विवेकानन्द इसे इस प्रकार समझाते हैं: प्राण और आकाश मिलकर पुनः संयोजित होते हैं और उनसे तत्वों का निर्माण करते हैं। . . . प्राण के बार-बार प्रहार से प्रभावित आकाश, वायु या कंपन उत्पन्न करता है। यह वायु कंपन करती है, और कंपन अधिक से अधिक तेजी से बढ़ते हुए घर्षण के परिणामस्वरूप गर्मी, तेजस को जन्म देती है। फिर यह ऊष्मा द्रवीकरण में समाप्त हो जाती है, आपा। फिर वह तरल पदार्थ बन जाता है ठोस। हमारे पास ईथर और गति थी, और फिर गर्मी आई, फिर यह तरल हो गया, और फिर यह स्थूल पदार्थ में संघनित हो गया; और यह बिल्कुल विपरीत तरीके से वापस चला जाता है। अत: सृष्टि का क्रम क्रमशः आकाश, वायु, ताप, जल और पृथ्वी है।

वेदांत "अव्यक्त से प्रकट रूप की ओर प्रक्षेपण" मानता है। पसंदीदा वेदांतिक शब्द, "प्रक्षेपण" (या "ईश्वर की श्वास") को आमतौर पर अन्य धर्मग्रंथों में सृजन कहा जाता है। सृजन पर स्वामी विवेकानन्द की शिक्षा में "प्रक्षेपण" शब्द शामिल था; "सृजन" के सही अनुवाद के रूप में संस्कृत से: सृष्टि का पहला प्रश्न यह है कि यह प्रकृति, प्रकृति, माया अनंत है, अनादि है। ऐसा नहीं है कि यह संसार किसी दिन रचा गया, ऐसा नहीं कि किसी ईश्वर ने आकर संसार बनाया और तब से सो रहा है; क्योंकि ऐसा नहीं हो सकता।

रचनात्मक ऊर्जा अभी भी जारी है. ईश्वर सदैव सृजन करता रहता है - कभी विश्राम में नहीं रहता। गीता के उस अंश को याद रखें जहां कृष्ण कहते हैं, "यदि मैं एक क्षण के लिए भी विश्राम में रहूं, तो यह ब्रह्मांड नष्ट हो जाएगा।" वह रचनात्मक ऊर्जा जो हमारे चारों ओर

दिन-रात काम कर रही है, यदि एक क्षण के लिए भी रुक जाए तो सब कुछ धराशायी हो जाता है। ऐसा कोई समय नहीं था जब वह ऊर्जा पूरे ब्रह्मांड में काम नहीं करती थी, लेकिन चक्रों का नियम है, प्रलय। सृजन के लिए हमारा संस्कृत शब्द, ठीक से अनुवादित, प्रक्षेपण होना चाहिए न कि सृजन। अंग्रेजी भाषा में क्रिएशन शब्द के लिए दुर्भाग्य से वह भयावह, शून्य से कुछ निकलने का, गैर- अस्तित्व से निर्माण होने का, गैर-अस्तित्व के अस्तित्व में बदलने का सबसे कच्चा विचार है, जिसके बारे में पूछकर, निश्चित रूप से, मैं आपका अपमान नहीं करूंगा। आपको विश्वास करना है. इसलिए, हमारा शब्द प्रक्षेपण है। यह संपूर्ण प्रकृति अस्तित्व में है, यह सूक्ष्म हो जाती है, कम हो जाती है; और फिर विश्राम की अवधि के बाद, जैसे कि, पूरी चीज़ फिर से आगे की ओर प्रक्षेपित हो जाती है, और वही संयोजन, वही विकास, वही अभिव्यक्तियाँ प्रकट होती हैं और चलती रहती हैं, जैसे कि एक निश्चित समय के लिए, केवल फिर से टूटने के लिए टुकड़ों में, बारीक से बारीक होते जाना, जब तक कि पूरी चीज़ ख़त्म न हो जाए, और फिर से बाहर न आ जाए। इस प्रकार यह अनन्त काल तक तरंग जैसी गति के साथ आगे-पीछे होता रहता है।

समय, स्थान और कारण सभी इसकी प्रकृति में हैं। इसलिए, यह कहना कि इसकी शुरुआत हुई थी, बिल्कुल बकवास है। इसकी शुरुआत या अंत के बारे में कोई सवाल नहीं उठ सकता। इसलिए हमारे धर्मग्रंथों में जहां भी आरंभ और अंत शब्दों का उपयोग किया गया है, आपको यह याद रखना चाहिए कि इसका अर्थ एक विशेष चक्र की शुरुआत और अंत है; उससे अधिक कुछ नहीं। सृजन को "उत्सर्जन" भी कहा जा सकता है। नियोप्लाटोनिस्टों ने "उत्सर्जन" शब्द का प्रयोग किया; सृजन के लिए: "यह उत्पादन एक भौतिक प्रक्रिया नहीं है, बल्कि बल का उत्सर्जन है। . ." स्वामी विवेकानन्द सृष्टि के संबंध में दो वैदिक सिद्धांतों का हवाला देते हैं, जो वास्तव में ईश्वर का प्रक्षेपण है। पहले सिद्धांत के अनुसार, संपूर्ण ब्रह्मांड एक अविभाज्य अवस्था से उत्पन्न या प्रक्षेपित होता है, और एक निश्चित अवधि के बाद, संपूर्ण सृष्टि एक ही समय में विलीन हो जाती है। दूसरे सिद्धांत के अनुसार ब्रह्मांड के एक हिस्से में सृजन की क्रिया चलती है, जबकि दूसरे हिस्से में विघटन होता है। स्वामी विवेकानन्द ने दूसरे सिद्धांत का समर्थन किया और कहा: लेकिन सिद्धांत वही है, कि हम जो कुछ भी देखते हैं - अर्थात, स्वयं प्रकृति - क्रमिक उत्थान और पतन में प्रगति कर रही है। एक चरण, नीचे गिरना, संतुलन में वापस जाना, पूर्ण संतुलन, प्रलय कहलाता है, एक चक्र का अंत। भारत में आस्तिक लेखकों द्वारा ब्रह्मांड के प्रक्षेपण और प्रलय की तुलना ईश्वर की प्रश्वास और अंतःप्रश्वास से की गई है; ईश्वर, मानो ब्रह्मांड को सांस देता है, और

वह फिर से उसमें आ जाता है। जब यह शांत हो जाता है, तो ब्रह्मांड का क्या होता है? यह अस्तित्व में है, केवल सूक्ष्म रूपों में, कारण के रूप में, जैसा कि इसे सांख्य दर्शन में कहा जाता है। यह कारण, समय और स्थान से छुटकारा नहीं दिलाता; वे वहाँ हैं, केवल यह बहुत ही सूक्ष्म और सूक्ष्म रूपों में आते हैं। मान लीजिए कि यह पूरा ब्रह्मांड सिकुड़ना शुरू हो जाता है, जब तक कि हममें से हर कोई बस एक छोटा सा अणु नहीं बन जाता। . . " फ्रिटजॉफ़ कैप्रा इसे दूसरे तरीके से समझाते हैं: समय- समय पर विस्तार और संकुचन करने वाले ब्रह्मांड का यह विचार, जिसमें विशाल अनुपात के समय और स्थान का पैमाना शामिल है, न केवल आधुनिक ब्रह्मांड विज्ञान में, बल्कि प्राचीन भारतीय पौराणिक कथाओं में भी उत्पन्न हुआ है। ब्रह्मांड को एक जैविक और लयबद्ध रूप से गतिशील ब्रह्मांड के रूप में अनुभव करते हुए, हिंदू विकासवादी ब्रह्मांड विज्ञान विकसित करने में सक्षम थे जो हमारे आधुनिक वैज्ञानिक मॉडल के बहुत करीब आते हैं। इनमें से एक ब्रह्माण्ड लीला -दिव्य लीला - के हिंदू मिथक पर आधारित है, जिसमें ब्राह्मण खुद को दुनिया में बदल देता है। लीला एक लयबद्ध नाटक है जो अनंत चक्रों में चलता रहता है, एक अनेक बन जाता है और अनेक एक में लौट आते हैं। भगवद गीता में, भगवान कृष्ण ने सृष्टि की इस लयबद्ध लीला का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है: समय की रात के अंत में सभी चीजें मेरी प्रकृति में लौट आती हैं; और जब समय का नया दिन शुरू होता है तो मैं उन्हें फिर से प्रकाश में लाता हूं।

इस प्रकार अपने स्वभाव के माध्यम से मैं सारी सृष्टि को सामने लाता हूं। मैं हूं और मैं कार्यों का नाटक देखता हूं। मैं देखता हूं,और सृष्टि के अपने कार्य में प्रकृति वह सब कुछ सामने लाती है जो गतिशील है और गतिमान नहीं है: और इस प्रकार विश्व की क्रांतियाँ घूमती रहती हैं।

हिंदू संत इस लयबद्ध दिव्य खेल को संपूर्ण ब्रह्मांड के विकास के साथ पहचानने से नहीं डरते थे। उन्होंने ब्रह्मांड को समय-समय पर विस्तार और संकुचन के रूप में चित्रित किया और एक रचना की शुरुआत और अंत के बीच के अकल्पनीय समय को कल्प नाम दिया। इस प्राचीन मिथक का पैमाना वास्तव में चौंका देने वाला है; इसी तरह की अवधारणा को फिर से सामने लाने में मानव मस्तिष्क को दो हजार साल से अधिक का समय लगा है।"

रचनात्मक प्रक्रिया की इस चर्चा में, वेदांत में मुख्य विचार यह घोषित करना रहा है कि अनेकता के पीछे एकीकृत सिद्धांत ईश्वर है, जो अनेकता का प्रभावी और भौतिक कारण है।

बहुलता केवल प्रत्यक्षतः वास्तविक है, सर्वोच्च वास्तविकता ईश्वर है। ईश्वर से यह सब उत्पन्न होता है, ईश्वर में ही यह सब विश्राम करता है और ईश्वर में ही यह सब समाहित हो जाता है।

सृष्टि के साथ ईश्वर की कठोरतम तपस्या (तप) भी शामिल है। तपस्या शब्द का अर्थ है ताप। संपूर्ण ब्रह्मांड एक संकेंद्रित रूप में था, जिसका बाद के साहित्य में एक बिंदु, या बिंदु के रूप में उल्लेख किया गया है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक अतिसूक्ष्म बिंदु, एक एकल बिंदु में था। उसमें से विस्फोट हुआ।

एक समझदार पाठक को खगोल भौतिकी के नवीनतम निष्कर्षों और प्राचीन भारतीय ब्रह्माण्ड संबंधी विचारों के बीच कई आश्चर्यजनक समानताएँ मिलेंगी, जिनके बारे में स्वामीजी कहते हैं: " . . . आप पाएंगे कि वे आधुनिक विज्ञान की नवीनतम खोजों के अनुरूप कितने अद्भुत हैं; और जहां असामंजस्य है, आप पाएंगे कि उनमें नहीं, बल्कि आधुनिक विज्ञान में कमी है।" आइंस्टीन लिखते हैं कि "ब्रह्मांडीय विस्तार केवल एक अस्थायी स्थिति हो सकती है जिसके बाद ब्रह्मांडीय समय के किसी भविष्य के युग में संकुचन की अवधि आएगी। इस चित्र में ब्रह्मांड एक स्पंदित गुब्बारा है जिसमें विस्तार और संकुचन के चक्र अनंत काल तक एक दूसरे के बाद आते हैं।"

आधुनिक खगोलभौतिकीविद्, स्टीफ़न हॉकिंग लिखते हैं: "ऐसा माना जाता है कि महाविस्फोट के समय, ब्रह्मांड का आकार शून्य था, और इसलिए यह असीम रूप से गर्म था।" . . विज्ञान का पूरा इतिहास इस बात का क्रमिक अहसास रहा है कि घटनाएँ मनमाने तरीके से नहीं घटती हैं, बल्कि वे एक निश्चित अंतर्निहित क्रम को प्रतिबिंबित करती हैं, जो दैवीय रूप से प्रेरित हो भी सकती है और नहीं भी।"

वेद यह भी कहते हैं कि सृष्टि चल रही है: जो अतीत में था वह नए चक्र में दोहराया जा रहा है। स्टीफन हॉकिंग लिखते हैं, "इस प्रकार, जब हम ब्रह्मांड को देखते हैं, तो हम इसे वैसे ही देख रहे हैं जैसे यह अतीत में था।" वह आगे लिखते हैं, "लेकिन उन्होंने [भगवान] ने ब्रह्मांड की प्रारंभिक स्थिति या विन्यास को कैसे चुना? एक संभावित उत्तर यह कहना है कि भगवान ने ब्रह्मांड के प्रारंभिक विन्यास को उन कारणों से चुना जिनके बारे में हम जानने की उम्मीद नहीं कर सकते।" आधुनिक दिमाग के लिए शायद यह जानना पर्याप्त है कि समानता कितनी महान है। वेदांता "बिग बैंग" का समर्थन नहीं करता है; सिद्धांत और

उसका यंत्रवत भौतिकवाद। हमने केवल दोनों में पाए जाने वाले कुछ सामान्य विचारों का हवाला दिया है।

ब्रह्म परम सत्य है. ब्रह्म निर्विशेष-वैयक्तिक ईश्वर है। अवैयक्तिक ईश्वर को स्थैतिक पहलू कहा जा सकता है और व्यक्तिगत ईश्वर को ब्रह्म का गतिशील पहलू कहा जा सकता है। स्थिर पहलू अनिद अवतम् - जैसा कि ऋग्वेद कहते हैं, "यह बिना किसी गति के अस्तित्व में था।" ब्रह्म सत्य, चेतना और अनंत है। ज्ञान, इच्छा और क्रिया ब्रह्म में निहित हैं। भगवान अपनी प्रकृति (माया) को चेतन करके ब्रह्मांड को प्रक्षेपित करते हैं।

खगोल भौतिकी और अद्वैत वेदांत कुछ बिंदुओं पर सहमत हैं। अद्वैत वेदांत स्पंदित या दोलनशील ब्रह्मांड की धारणा को कायम रखता है। सृजन के बाद विघटन होता है और यह प्रक्रिया अनंत काल तक चलती रहेगी। विज्ञान ने "बिग बैंग" शब्द का प्रयोग किया सृजन के शुरुआती बिंदु और "बड़े संकट" के लिए; ब्रह्मांड के विघटन के लिए. "ब्रह्मांडीय अंडा" वेदांत का, जो एक बिंदु की तरह है, खगोल भौतिकी में विलक्षणता कहा जाता है। वैज्ञानिक की पृष्ठभूमि सामग्री को सृजन का स्रोत स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह दोनों प्रणालियों के बीच सबसे बड़ा अंतर है। विज्ञान अभी भी खोज कर रहा है और अनिर्णायक है लेकिन वेदांत ने अंतिम निर्णय दे दिया है, जो अपराजेय है। जब तक एक परिवर्तनहीन वास्तविकता न हो, परिवर्तन बिल्कुल भी महसूस नहीं किया जा सकता है।

।। हरि ॐ तत सत ।। विशेष गीता 9.08।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.9॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥

"na ca māṁ tāni karmāṇi,
nibadhnanti dhanañjaya..।
udāsīna-vad āsīnam,
asaktaṁ teṣu karmasu"..।।

भावार्थ:

हे धनन्जय! यह सभी कर्म मुझे बाँध नही पाते है क्योंकि मैं उन कार्यों में बिना किसी फ़ल की इच्छा से उदासीन भाव में स्थित रहता हूँ। (९)

Meaning:

Nor do those actions bind me,O Dhananjaya. I remain as though indifferent and unattached to those actions.

Explanation:

Earlier in the chapter, Shri Krishna addressed several misconceptions that we have about Ishvara. He asserted that Ishvara cannot be contained in any one part of the universe, in any one object. He also asserted that we need to wait for a long time to Ishvara. Ishvara is accessible at this very moment. What is missing is knowledge that enables us to recognize Ishvara in everything.

In this shloka, Shri Krishna addresses another misconception of Ishvara, that he has a personal agenda in each and everyone's destiny. To that end, Shri Krishna clarifies that Ishvara delegates the functioning of the universe to the laws of Prakriti. He does not personally get involved, nor does he claim credit for the creation, destruction and sustenance of billions of beings in this universe.

The material energy is actually inert and insentient. It is devoid of consciousness, which is the source of life. How then, one may wonder, does it perform the wonderful work of creating such an amazing world? The Ramayan explains this well: "The material energy is insentient by itself. But when it receives inspiration from God, it begins to act as if it were sentient."

When God wishes to create the world, He glances at the material energy and animates it. The main idea to keep in mind is that although the process of creation goes on by His will and inspiration of God, He remains

unaffected by the work of the material energy. He remains ever-blissful and undisturbed in His personality, by virtue of His hlādinī śhakti (bliss-giving power). Hence, the Vedas call Him ātmārām, meaning "He who rejoices in Himself, without any need for external pleasures."

Our Puranaas contains several stories about the trinity of Brahma, Vishnu and Shiva who are charged with the responsibilities of creation, sustenance and dissolution respectively. They are aided by their consorts. Saraswati provides the knowledge needed for creation. Lakshmi provides the wealth needed for sustenance. Parvati provides the power needed for dissolution. The stories may portray that these deities personally take effort to perform their duties, but at the universal level, they are all part of the fully automatic system of Prakriti.

Therefore, the lesson for us here is that we should follow karma yoga because it is a universal law. Like Ishvara, who runs the universe while knowing that it is Prakriti's handiwork, we too should perform our duties in a spirit of vairagya or detachment, knowing that Prakriti is running everything. If we worry about who will get the credit for our actions, then we will get bound, taking us further away for liberation.

So then, how should we use this knowledge to refine our vision towards the world? This is explained next.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व के श्लोक में हम ने पढ़ा कि किस प्रकार परब्रह्म के संकल्प से संसार की रचना हुई। किस प्रकार उत्पत्ति, पालन और संहार के साथ साथ कर्मफल, कार्य कारण और विभिन्न लोक, जन्म-मरण का चक्र, प्रलय-विसर्ग और महाप्रलय आदि होता है। संसार मे परब्रह्म ने परा एवम अपरा प्रकृति के साथ अपनी उपस्थिति दर्ज की, सत- रज- तम प्रकृति द्वारा योगमाया से संसार की अनेक घटनाओं के उदय और नष्ट करने का क्रम जारी रखा।

परब्रह्म के विषय में हम क्या जानते थे, यह तो पता नहीं किंतु अपने विषय में जानकारी देते हुए, कृष्ण ने अर्जुन को परब्रह्म की यह बाते बताई

1) वह अव्यक्त और सूक्ष्म है,

2) वह सर्वत्र व्याप्त है और प्रत्येक जीव जड़ और चेतन के अंदर निवास करता है।

3) ब्रह्म ही सत्य है और जगत मिथ्या अर्थात ब्रह्म ही अविनाशी, अपरवर्तिनीय, नित्य है, शेष संपूर्ण जगत काल और स्थान से बंधा और परिवर्तनशील है।

4) परब्रह्म ही असंग, विशुद्ध, सत्य, नित्य है।

5) इस के बाद हम ने जाना संपूर्ण सृष्टि किसी प्रकार सर्ग में प्रकट होती है और प्रलय में परब्रह्म में विलीन हो जाती है। कुछ भी नया नही रचा जाता, केवल उस का स्वरूप परिवर्तित होता है और यह सब योगमाया से प्रकृति नियमित रूप से करती है। वह ही ब्रह्म से सृष्टि के स्वरूप को प्रकट करती है और वह ही सृष्टि को बीज स्वरूप में समेट कर पुनः ब्रह्म में मिला देती है, यही क्रिया बार बार लाखो वर्षो में होती रहती है। यह प्रकृति और योगमाया अपने नियम से ब्रह्म से ही उत्पन्न होती है और उसी में समा जाती है और ब्रह्म के बनाए नियमो में कार्य करती है। इस प्रकार संपूर्ण सृष्टि के लय का कारण परब्रह्म ही है।

6) प्रस्तुत श्लोक में परब्रह्म स्वरूप में परमात्मा अपना कर्म को उदासीन भाव से करते है, बताया है। अर्थात संपूर्ण 1 से 5 तक के कार्य अकर्ता और अभोक्ता भाव से होने से, ब्रह्म अपने को मुक्त घोषित करते है।

कर्म से कोई भी जीव उस के फल या परिणाम से नही बंधतता। कर्म के फल किसी भी जीव को उस के कर्म के प्रति आसक्ति और कामना से बांधते है। अतः कर्म बंधन का मुख्य कारण अहंकार है, जिस ने अहंकार त्याग दिया कि वह कर्ता या उस कर्म का कारण या कर्म के होने का धेय है, वही निष्काम और निर्लिप्त कर्मयोगी होता है।

इतने कर्म, क्रिया एवम प्रणाली के संचालन, पालन, कारण होने के बावजूद परमात्मा का कहना है कि वह अकर्ता ही है क्योंकि वह संसार की प्रत्येक क्रिया से अपने को नही बांधते और उदासीन भाव से रखते है। न ही कोई भी कर्म और कारण उन्हें बांधता है, क्योंकि वह उस के प्रति भोक्तत्व भाव से मुक्त है। निष्काम कर्म की शिक्षा का प्रथम उदाहरण स्वयं परब्रह्म ही है।

जिस प्रकार आकाश के आश्रय शीत, उष्ण तथा वर्षा आदि सब व्यवहार की सिद्धि होती है, परंतु आकाश स्वयं शीतोष्ण रूप को प्राप्त नही होता। इसी प्रकार प्रकृति का यह लय-विकास रूप सब व्यवहार मेरे आश्रय होता हुआ भी मुझ को बंधन नही करता, किन्तु मैं तो प्रकृति के इन सब व्यवहारों में उदासीन की भांति अनासक्त रूप से ही स्थित रहता हूँ। भगवान का यह कथन उन के निष्काम भाव के योगी होने का है, जब तक हम अपना कर्म कर्तृत्व भाव एवम भोक्तव भाव से मुक्त हो कर नही करते तब तक कर्म बंधन से मुक्त नहीं हो सकते।

इसे और अधिक समझने के लिए किसी कलाकार को रंग मंच पर किसी का किरदार निभाना हो तो वो उस किरदार में पूरा डूब कर निभाता है किंतु उस का भाव उस किरदार तक ही सीमित होता है और रंगमंच के बाहर वो उस किरदार के कर्मो के प्रति उदासीन ही रहता है।

आज तक हम लोग विभिन्न देवी देवताओं को पूजते एवम सुनते आ रहे है जिस ब्रह्मा-विष्णु- महेश त्रिदेव सृष्टि- पालन- संहार के देवता एवम लक्ष्मी- पार्वती- सरस्वती धन-शक्ति- विद्या की देवियों को जानते है। परमात्मा ने कहा है कि जो जिस कामना से जिस भी देवता की पूजा करता है मै उस देवता द्वारा उस की कामना पूर्ण करता हूँ। परमात्मा इन सब से परे है यह सब प्रकृति के नियमो के अंतर्गत कार्य करते है और परमात्मा के अधीन है। परमात्मा इस कार्यप्रणाली में कोई हस्तक्षेप नही करता क्योंकि वो यह सब प्रकृति को सौप कर स्वयं उदासीन भाव मे रहता है।

मार्तंड ऋषि द्वारा रचित दुर्गा सप्तशती में भी संपूर्ण सृष्टि के संचालन और उत्पन्न होने का कारण आदिशक्ति को कहा है, जिस महालक्ष्मी, महाकाली और महासरस्वती उत्पन्न हुई और इन से ब्रह्मा, विष्णु, महेश और लक्ष्मी, दुर्गा और सरस्वती हुए। अतः सृष्टि का मूल वह एक मात्र परब्रह्म, ऊर्जा, तेज, शक्ति या केंद्रबिंदु है, जिस से यह सृष्टि बार बार उत्पन्न और विलीन होती है।

परमात्मा भी प्रकृति द्वारा सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति, पालन और संहार आदि क्रिया करते है। इस मे जीव प्रकृति के नियमो के अंतर्गत अपने कर्मो का फल भोगते है किंतु परमात्मा इस सृष्टि का पालन करता हुआ भी प्रकृति की क्रियाओं के प्रति उदासीन ही रहता है। उस को कोई भी कर्म का बंधन भी नही है और वो किसी भी क्रिया का कर्ता भी नही। यदि जीव अज्ञान वश उसे कोसते या उस की अर्चना करते है तो भी वो अकर्ता ही रहता है और सृष्टि का पालन करता है।

भगवान् ने अपने को उदासीन की तरह क्यों कहा कारण कि मनुष्य उसी वस्तु से उदासीन होता है। जिस वस्तु की वह सत्ता मानता है। परन्तु जिस संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है। उसकी भगवान् के सिवाय कोई स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। इसलिये भगवान् उस संसार की रचनारूप कर्म से उदासीन क्या रहें वे तो उदासीन की तरह रहते हैं क्योंकि भगवान् की दृष्टि में संसार की कोई सत्ता ही नहीं है। तात्पर्य है कि वास्तव में यह सब भगवान् का ही स्वरूप है। इन की स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। तो अपने स्वरूप से भगवान् क्या उदासीन रहें इसलिये भगवान् उदासीनकी तरह हैं।

ऐसा कह कर भगवान् मनुष्य मात्र को यह शिक्षा देते हैं कर्मबन्धन से छूटनेकी युक्ति बताते हैं कि जैसे मैं कर्मों में आसक्त न होनेसे बँधता नहीं हूँ। ऐसे ही तुमलोग भी कर्मों में और उन के फलों में आसक्ति न रखो। तो सब कर्म करते हुए भी उन से बँधोगे नहीं। अगर तुमलोग कर्मों में और उनके फलों में आसक्ति रखोगे। तो तुमको दुःख पाना ही पड़ेगा। बारबार जन्मना मरना ही पड़ेगा। कारण कि कर्मों का आरम्भ और अन्त होता है तथा फल भी उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं। पर कमर्फल की इच्छा के कारण मनुष्य बँध जाता है। यह कितने आश्चर्यकी बात है कि कर्म और उसका फल तो नहीं रहता, पर (फलेच्छाके कारण) बन्धन रह जाता है ऐसे ही वस्तु नहीं रहती, पर वस्तु का सम्बन्ध,(बन्धन) रह जाता है सम्बन्धी नहीं रहता। पर उसका सम्बन्ध रह जाता है मूर्खता की बलिहारी है। इस से यह अभिप्राय समझ लेना चाहिये कि कर्तापनके अभिमानका अभाव और फलसम्बन्धी आसक्ति का अभाव दूसरों को भी बन्धनरहित कर देनेवाला है। इस के सिवा अन्य प्रकार से किये हुए कर्मों द्वारा मूर्ख लोग कोशकार (रेशमके कीड़े) की भाँति बन्धन में पड़ते हैं।

इस अध्याय के आरंभ में परमात्मा ने इस राजगृह्य योग की व्याख्या से पूर्व कहा था कि हमे अनुसूय, श्रद्धा, विश्वास और प्रेम से सुनने को कहा था। जब तक हम में यह गुण नही, हम परमात्मा की बात को अपने अहम और ज्ञान से सुन कर तर्क करेंगे। इसी कारण परमात्मा के किसी भी कार्य से हम सुखी या दुखी होते है। जबकि स्वयं परमात्मा अपने प्रत्येक कार्य के प्रति अकर्त्ता रह कर उदासीन है। इसी प्रकार हमे भी परमात्मा के निमित हो कर अपने प्रत्येक कर्म के साथ परमात्मा में श्रद्धा, विश्वास और प्रेम रखे और अहम और भोक्ता भाव को छोड़ कर शंका रहित रहे।

उदासीन होने का अर्थ कर्तव्य धर्म और कर्म के प्रति आलसी या नकारात्मक होना नही है, कर्म के कर्तृत्व और भोक्तत्व भाव से मुक्त हो कर पूर्ण दक्षता के साथ कर्म करना है। शादी

के कार्य मे, वहां शादी के सभी प्रबंध कार्य करने वाले, कभी भी शादी के प्रति उदासीन ही रहते है, परन्तु प्रबंधन में पूर्ण दक्षता के साथ कार्य करते है।

संसार का सब से बड़ा आश्चर्य यही है कि जिस परब्रह्म ने सम्पूर्ण सृष्टि की रचना की, उसे अपनी योगमाया और प्रकृति से संचालित किया, वह स्वयं अहम को त्याग कर अकर्ता और अभोक्ता भाव में उदासीन हो कर कर्म करता है। जब सृष्टि यज्ञ चक्र में समस्त क्रियाएं प्रकृति द्वारा योगमाया से संचालित है, किंतु जीव अज्ञान में कर्ता और भोक्ता है। तो वही उसी के समक्ष मनुष्य जैसा क्षुद्र जीव जब अपने अहम, आसक्ति, कामना में कर्ता और भोक्ता भाव में जन्म - मरण के दुखो को भोक्ता है तो परमात्मा से ही प्रश्न करता है कि उस ने यह सृष्टि की रचना ही क्यों करी ?

आगे हम कर्तृत्व भाव मे मुक्त होने के अर्थ के स्पष्टीकरण को पढेंगे।

।। हरि ॐ तत सत।। 9.09।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.10॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरं ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

"mayādhyakṣeṇa prakṛtiḥ,
sūyate sa-carācaram..।
hetunānena kaunteya,
jagad viparivartate"..।।

भावार्थ:

हे कुन्तीपुत्र! मेरी अध्यक्षता (पूर्ण-अधीनता) में मेरी भौतिक-प्रकृति (अपरा-शक्ति) सभी चर (चलायमान) तथा अचर (स्थिर) जीव उत्पन्न और विनिष्ट करती रहती है, इसी कारण से यह संसार परिवर्तनशील है। (१०)

Meaning:

Under my supervision, Prakriti generates this universe of moving and motionless (beings). With that purpose, O Kaunteya, the universe revolves.

Explanation:

Shri Krishna concludes the topic of Prakriti and its mechanisms by re-asserting that Prakriti is subservient to Ishvara. He describes Ishvara as the supervisor, the "adhyaksha". He says that Ishvara does not physically have to "do" anything in order to create, sustain and dissolve the universe. Ishvara's mere presence enables Prakriti to function, just like electricity enables a television to function. Without his presence, Prakriti remains inert and is incapable of doing anything whatsoever.

For example, the President of a country does not personally do every task of the government. He has various departments under Him, and officials appointed for performing the different functions. And yet, the accomplishments and failures of the government are attributed to Him. This is because He sanctions the government officials for performing tasks under His jurisdiction. Similarly, the first- born Brahma and the material energy accomplish the tasks of creation and manifestation of life forms. Since they work under God's sanction, He is also referred to as the Creator.

From Ishvara's standpoint, there is no notion of "doing work" or "obtaining the result"; he knows that ultimately it is Prakriti that runs the show, and therefore he remains detached. He is like the owner of a theatre that has employed a magician to perform a show. The owner is unconcerned whether the magician cuts a woman in half with a saw, or pulls a rabbit out of a hat.

Let us now look at the practical implication this shloka. If we substitute the word Ishvara in the previous statement with the word "jeeva" or individual, we come to the same conclusion from the previous chapters on karma yoga. Only through disassociation with the notion that "I am the doer" and "I obtain the result" can we truly be liberated from the cycle of creation and dissolution.

The key question is : who controls whom? If we let Prakriti control us, if we let our lower nature drag us towards sense pleasure, we can never be liberated. We should re-assert our control of our lower self through our higher self.

Furthermore, Shri Krishna also gives us a technique to deal with life's ups and downs with this shloka. Whenever we encounter a sorrowful or hurtful situation, all we need to do is to know that (a) we have obtained this situation through our own actions and (b) it is yet another name and form that Prakriti has created.

Once we know that something is a name and form, we will immediately know that it is Prakriti's handiwork, just like we know that something is an April fool's joke or a magician's trick. This will enable us to pierce through Prakriti's pranks and to know that Ishvara the supervisor is behind everything.

So then, Shri Krishna has explained to us "how the universe revolves", in other words, how the magic trick works. This is how we should develop our vision of the world. However, instead of trying to see Ishvara behind everything, many people still try to box Ishvara into a finite concept. More on this is taken up in the next shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

परमात्मा यहां स्पष्ट करते है उन की उपस्थिति में सर्वत्र व्याप्त मेरे अध्यास से यह माया (त्रिगुणमयी प्रकृति, अष्टधा मूल प्रकृति और चेतन दोनों) चराचर सहित जगत को रचती है, जो क्षुद्र कल्प है और इस कारण से यह संसार आवागमन के चक्र में घूमता रहता है। प्रकृति का यह क्षुद्र कल्प जिस काल का परिवर्तन है वो इन के अध्यास से प्रकृति ही करती है, मैं अर्थात परमात्मा नही करता।

उदाहरण से हम समझे तो कार से यात्रा करते वक्त गाड़ी ड्राइवर के नियंत्रण से चलती है। पेट्रोल के जलने से उस ऊर्जा मिलती है और इंजन से वह ऊर्जा परिवर्तित हो कर पहियों की

गति देती है। शेष कल पुर्जे उसे संतुलित और आराम देह बनाते है। किन्तु कहाँ पहुंचना है और कहां यात्रा समाप्त होगी, यह कार का स्वामी तय करता है। इस ब्रह्मांड का ड्राइव प्रकृति है, माया उस की ऊर्जा, पंच भूत कल पुर्जे। इसी प्रकार कार के संचालन में स्वामी के दिशा निर्देश होते है, बाकी प्रक्रिया ड्राइवर करता है। यह संसार के संचालन में प्रकृति करती है।

वेदान्त में, अकर्म आत्मा और क्रियाशील अनात्मा के सम्बन्ध को अनेक उपमाओं के द्वारा स्पष्ट किया गया है। प्रत्येक उपमा इस संबंध रहित संबध के किसी एक पक्ष पर विशेष रूप से प्रकाश डालती है। सूर्य की किरणें जिन वस्तुओं पर पड़ती हैं, उन्हें उष्ण कर देती हैं, परन्तु बीच के उस माध्यम को नहीं, जिसमें से निकल कर वह उस वस्तु तक पहुँचती हैं। आत्मा भी अपने अनन्त वैभव में स्थित रहता है और उस के सान्निध्य से अनात्मा चेतनवत् व्यवहार करने में सक्षम हो जाता है। अनात्मा और प्रकृति पर्यायवाची शब्द हैं। किसी राजा के मन में संकल्प उठा कि आगामी माह की पूर्णिमा के दिन उस को एक विशेष तीर्थ क्षेत्र को दर्शन करने के लिए जाना चाहिये। अपने मन्त्री को अपना संकल्प बताकर राजा उस विषय को भूल जाता है। किन्तु पूर्णिमा के एक दिन पूर्व वह मन्त्री राजा के पास पहुँचकर उसे तीर्थ दर्शन का स्मरण कराता है। दूसरे दिन जब राजा राजप्रासाद के बाहर आकर यात्रा प्रारम्भ करता है, तब देखता है कि सम्पूर्ण मार्ग में उस की प्रजा एकत्र हुई है और स्थानस्थान पर स्वागत द्वार बनाये गये हैं। राजा के इस तीर्थ दर्शन और वापसी के लिए विस्तृत व्यवस्था योजना बनाकर उसे सफलतापूर्वक और उत्साह सहित कार्यान्वित किया गया है। समस्त राजकीय अधिकारयों तथा प्रजाजनों ने अपनी सम्पूर्ण क्षमता और प्रयत्न को उड़ेल दिया है, जिससे राजा की तीर्थयात्रा सफल हो सके। इन समस्त उत्तेजनापूर्ण कर्मों में प्रत्येक व्यक्ति को कर्म का अधिकार और शक्ति राजा के कारण ही थी, परन्तु स्वयं राजा इन सब कार्यों में कहीं भी विद्यमान नहीं था। राजा की अनुमति प्राप्त होने से मन्त्री की आज्ञाओं का सब ने निष्ठा से पालन किया। यदि केवल सामान्य नागरिक के रूप में वही मन्त्री यह प्रदर्शन आयोजित करना चाहता, तो वह कभी सफल नहीं हो सकता था। इसी प्रकार, आत्मा की सत्ता मात्र से प्रकृति कार्य क्षमता प्राप्त कर सृष्टि रचना की योजना एवं उसका कार्यान्वयन करने में समर्थ होती है। व्यष्टि की दृष्टि से विचार करने पर यह सिद्धांत और अधिक स्पष्ट हो जाता है। आत्मा केवल अपनी विद्यमानता से ही मन और बुद्धि को प्रकाशित कर उनमें स्थित वासनाओं की अभिव्यक्ति एवं पूर्ति के लिए बाह्य भौतिक जगत् और उसके अनुभव के लिए आवश्यक ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों को रचता है।

मेरी अध्यक्षता में प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है। यहाँ प्रकृति का अर्थ है अव्यक्त।नानाविध जगत् का यह नृत्य परिवर्तन एवं विनाश की लय के साथ आत्मा की सत्तामात्र से ही चलता रहता है। इसी कारण संसार चक्र घूमता रहता है। उपर्युक्त विचार का अन्तिम निष्कर्ष यही निकलता है कि आत्मा सदा अकर्त्ता ही रहता है। आत्मा के सान्निध्य से प्रकृति चेतनता प्राप्त कर सृष्टि का प्रक्षेपण करती है। उसकी सत्ता और चेतनता आत्मा के निमित्त से है, स्वयं की नहीं। आत्मा और अनात्मा, पुरुष और प्रकृति के मध्य यही सम्बन्ध है। स्तम्भ के ऊपर अध्यस्त प्रेत के दृष्टान्त में स्तम्भ और प्रेत के सम्बन्ध पर विचार करने से जिज्ञासु को पुरुष और प्रकृति का संबंध अधिक स्पष्टतया ज्ञात होगा।

यहाँ यह शङ्का होती है कि इस भूतसमुदाय को मैं रचता हूँ तथा मैं उदासीन की भाँति स्थित रहता हूँ यह कहना परस्पर विरुद्ध है। इस शङ्का को दूर करने के लिये कहते हैं, सब ओर से द्रष्टामात्र ही जिस का स्वरूप है ऐसे निर्विकार स्वरूप मुझ अधिष्ठाता से (प्रेरित होकर) अविद्यारूप मेरी त्रिगुणमयी माया प्रकृति समस्त चराचर जगत् को उत्पन्न किया करती है। वेदमन्त्र भी यही बात कहते हैं कि समस्त भूतों में अदृश्य भाव से रहनेवाला एक ही देव है जो कि सर्वव्यापी और सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा तथा कर्मों का स्वामी, समस्त भूतों का आधार, साक्षी, चेतन, शुद्ध और निर्गुण है। हे कुन्तीपुत्र इसी कारण से अर्थात् मैं इस का अध्यक्ष हूँ इसीलिये चराचर सहित साकार निराकार रूप समस्त जगत् सब अवस्थाओं में परिवर्तित होता रहता है क्योंकि जगत् की समस्त प्रवृत्तियाँ साक्षी चेतन के ज्ञान का विषय बनने के लिये ही हैं। मैं यह खाऊँगा, यह देखता हूँ, यह सुनता हूँ, अमुक सुखका अनुभव करता हूँ, दुःख अनुभव करता हूँ, उस के लिये अमुक कार्य करूँगा, इसके लिये अमुक कार्य करूँगा, अमुक वस्तु को जानूँगा इत्यादि जगत् की समस्त प्रवृत्तियाँ ज्ञानाधीन और ज्ञान में ही लय हो जानेवाली हैं। जो इस जगत् का अध्यक्ष साक्षी चेतन है वह परम हृदयाकाश में स्थित है इत्यादि मन्त्र भी यही अर्थ दिखला रहे हैं। **जब कि सब का अध्यक्षरूप चैतन्यमात्र एक देव वास्तव में समस्त भोगों के सम्बन्ध से रहित है और उसके सिवा अन्य चेतन न होने के कारण दूसरे भोक्ता का अभाव है तो यह सृष्टि किस के लिये है इस प्रकार का प्रश्न और उस का उत्तर यह दोनों ही नहीं बन सकते (अर्थात् यह विषय अनिर्वचनीय है)। (इसको) साक्षात् कौन जानता है, इस विषय में कौन कह सकता है यह जगत् कहाँ से आया किस कारण यह रचना हुई इत्यादि मन्त्रों से (यही बात कही गयी है)। इसके सिवा भगवान् ने भी कहा है कि अज्ञान से ज्ञान आवृत हो रहा है इसलिये समस्त जीव मोहित हो रहे हैं।**

व्यवहार में पूर्व उदाहरण के अनुसार किसी बहुत बढ़े उद्योग का प्रबंध उस की मैनेजमेंट कमिटी करती है, उद्योगपति अपने सभी अधिकार उस समिति को अपने संकल्प के अनुसार दे देता है। वह स्वयं कुछ नही करता। कमिटी में विभिन्न विभाग एवम व्यक्ति अपने अपने अधिकार क्षेत्र एवम कार्यप्रणाली रखते है, कमिटी को हम प्रकृति माने और उस के कार्यप्रणाली को हम माया कह सकते है। इन के विभिन्न विभाग विभिन्न लोक होंगे। निचले स्तर पर कर्मचारी, उत्पादन, क्रय, विक्रय आदि विभाग है। इस प्रकार सम्पूर्ण कारखाना कार्य करते हुए भी उस का मालिक का कोई कर्म नही होता। जब समस्त कार्य मालिक के नाम पर हो किंतु मालिक को उस के करने का अहंकार न हो, तो यह साक्षी भाव में किया कृत्य कहा जाएगा।

प्रकृति योग माया से समस्त संसार का संचालन करती है जिस में सत, रज और तम गुण के अपने अपने गुणों के सामजस्य के अनुसार जीव कार्य करता है। जैसे ऊर्जा मिलने पर यंत्र उस के मैकेनिकल फिटनेस के हिसाब से क्रियाशील हो जाता है। Crane और हवाई जहाज दोनो एक ही प्रकार ही ऊर्जा में अलग अलग कार्य, उन की फिटनेस में करते है। इसलिए जब भी यह प्रश्न हो, कि मेरे साथ ऐसा क्यों ? तो अपनी फिटनेस को सुधारों।

हमें ध्यान रखना होगा कि भगवद गीता में यह सब परब्रह्म का ज्ञान भगवान श्री कृष्ण अर्थात मानवीय अवतार में ब्रह्म दे रहा है, इसलिए मैं शब्द का प्रयोग किया गया है किंतु कृष्ण भी प्रकृति के निमित्त ब्रह्म का ईश्वरीय अवतार है इसलिए प्रकृति के नियम के अनुसार शरीर से नश्वर है। जो भ्रांति से कृष्ण के स्वरूप को ही परब्रह्म कहते है, उन्हे यह ज्ञान होना चाहिए कि ईश्वर जब भी अवतार लेता है तो प्रकृति के नियम से कार्य करता है किंतु वह प्रकृति की योगमाया और तीनों गुणों को नियंत्रित भी करता है। जीव जब योगमाया और प्रकृति के तीनों गुणों के अंदर है तो जीवात्मा है और जब वह प्रकृति के तीनों गुणों और योगमाया के नियंत्रण से बाहर है तो ईश्वर है।

संसार परब्रह्म के संकल्प की देन है, जिस को उस ने प्रकृति एवम योगमाया को संचालन का अधिकार दे कर अपने को अकर्ता एवम निर्लिप्त कर लिया है। प्रकृति के नियम भी कार्य-कारण के सिंद्धान्त पर आधारित है, जीव अर्थात ब्रह्म का अंश जब तक अज्ञान में रहता है, वह प्रकृति के अधीन कार्यरत है। जो इस कार्य प्रणाली को नही समझते, उन के परमात्मा क्या कहते है, आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 9.10।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.11॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

"avajānanti māṁ mūḍhā,
mānuṣīṁ tanum āśritam..।
paraṁ bhāvam ajānanto,
mama bhūta- maheśvaram"..।।

भावार्थ:

मूर्ख मनुष्य मुझे अपने ही समान निकृष्ट शरीर आधार (भौतिक पदार्थ से निर्मित जन्म-मृत्यु को प्राप्त होने) वाला समझते हैं इसलिये वह सभी जीवात्माओं का परम-ईश्वर वाले मेरे स्वभाव को नहीं समझ पाते हैं। (११)

Meaning:

Resorting to a human form, foolish people insult me, not knowing my supreme nature as the overlord of all beings.

Explanation:

He highlights the fact, that Īśvara is akartā and abhoktā. And therefore we cannot blame the Lord for our problems; we cannot Lord is unjust; because nothing is happening according to the plan or will or wish of the God; God is an interfering presence.

Removal of all misconceptions of Ishvara is one of the recurring themes of this chapter. Even though Shri Krishna has repeatedly defined Ishvara as infinite, many people still get stuck with one form of Ishvara or the other. In this shloka, Shri Krishna terms such people foolish, and their behaviour insulting.

Those who say that God is only formless and cannot manifest in a personal form, contradict the definition of God as being all-mighty and all-powerful.

The Supreme Lord has created this entire world full of forms, shapes, and colors. If He can do such an amazing feat of creating myriad forms in the world, can He not create a form for Himself? Or is it that God says, "I do not have the power to manifest in a personal form, and hence I am only formless light." To say that He cannot possess a personal form makes Him incomplete.

However, in regard to the personal form of God, we must keep in mind that it is a divine form, which means it is devoid of all the defects found in material forms. The form of God is sat-chit-ānand—it is eternal, full of knowledge, and constituted of divine bliss.

In this verse, Lord Brahma prays to Shree Krishna, "O Lord, your body is not made of pañch mahābhūta (the five great elements); it is divine. And You have descended in this form by Your own free will, to bestow Your grace upon souls like me."

In chapter four of the Bhagavad Gita, Shree Krishna stated: "Although I am unborn, the Lord of all living entities, and have an imperishable nature, yet I appear in this world by virtue of Yogmaya, my divine power." (4.6) This means that not only does God possess a form, but He also descends in the world as an Avatar.

Now, many of us were conditioned by our cultures to believe that Ishvara is something that is far away and will take years and years of devotion to achieve. But Shri Krishna, through the Gita, has revealed to us the true nature of Ishvara as infinite, all- pervading and available right here and now. To ensure that we do not revert back to our old ways of thinking, Shri Krishna uses a strong term to refer to such people: foolish.

Even before we go to the level of Ishvara, we commit the error of thinking that our eternal essence, our self, is our human body only. Removing this erroneous notion was the message of the second chapter. In the same way,

we are likely to think of Ishvara as a finite form, and in doing so, treat everything else in the world with disregard.

Shri Krishna says that such an attitude is personally insulting to Ishvara, who is the supreme controller of the universe. It is like introducing a Nobel peace prize winner as an ordinary citizen, or to think that a junior police officer is the be- all and end- all of a country's government. People with such erroneous notions can cause a great deal of harm to themselves, as is pointed out in the next shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

जिस की सत्तास्फूर्ति पाकर प्रकृति अनन्त ब्रह्माण्डों की रचना करती है, चरअचर, स्थावरजङ्गम प्राणियों को पैदा करती है जो प्रकृति और उस के कार्यमात्र का संचालक, प्रवर्तक, शासक और संरक्षक है जिस की इच्छा के बिना वृक्ष का पत्ता भी नहीं हिलता प्राणी अपने कर्मों के अनुसार जिन जिन लोकों में जाते हैं। उन उन लोकों में प्राणियों पर शासन करने वाले जितने देवता हैं, उन का भी जो ईश्वर (मालिक) है और जो सब को जाननेवाला है, ऐसा वह मेरा भूतमहेश्वररूप सर्वोत्कृष्ट भाव (स्वरूप) है।

परमात्मा का कहते है कि मैं नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव तथा सभी प्राणियों का आत्मा हूँ। मेरे सर्वोत्कृष्ट प्रभाव को अर्थात् करने में, न करने में और उलटफेर करने में जो सर्वथा स्वतन्त्र है जो कर्म, क्लेश, विपाक आदि किसी भी विकार से कभी आबद्ध नहीं है जो क्षर से अतीत और अक्षर से भी उत्तम है तथा वेदों और शास्त्रों में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार ब्रह्म की परा और अपरा प्रकृति का वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने यह घोषित किया था कि मूढ़ लोग, मेरे अव्यय और परम भाव को नहीं जानते हैं और परमार्थत अव्यक्त स्वरूप मुझ को व्यक्त मानते हैं। इस अध्याय में स्वयं को सब की आत्मा बताते हुए श्रीकृष्ण पुन उसी कठोर शब्द मूढ़ का प्रयोग उन लोगों की निन्दा के लिए करते हैं।

भीष्म ने भी दुर्योधन को ब्रह्मा के देवताओ को संवाद के माध्यम से भगवान श्री कृष्ण के बारे मे बताया था

" सब लोको के महान ईश्वर भगवान वासुदेव सब के पूजनीय है। उन महान वीर्यवान शंख चक्र गदाधारी वासुदेव को मनुष्य समझ कर कभी अवज्ञा न करना। वे ही परम गुह्य, परम

पद, परम ब्रह्म और परम यशःस्वरूप है। वे ही अक्षर है, अव्यक्त है, सनातन है, परम तेज है, परम सुख है और परम सत्य है। देवता, इंद्र और मनुष्य किसी को भी उन अमित पराक्रमी प्रभु वासुदेव को मनुष्य मान कर उन का अनादर नही करना चाहिए। जो मूढ मति लोग उन हृषिकेश को मनुष्य बतलाते है, वे नराधम है। जो मनुष्य इन महात्मा योगेश्वर को मनुष्य देहधारी मान कर इन का अनादर करते है और जो इन चराचर के आत्मा श्री वत्स के चिन्ह वाले महान तेजस्वी पद्मनाभ भगवान को नही पहचानते, वे तामसी प्रकृति से युक्त है। जो इन कौस्तुभ किरिटधारी और मित्रो को अभय करने वाले भगवान का अपमान करता है, वह अत्यंत भयानक नरक में पड़ता है।"

परमात्मा अविनाशी, अकर्ता, साक्षी, अनन्त, अजन्मा ही है, जब भी परमात्मा ब्रह्मा द्वारा रचित इस सृष्टि यज्ञ की बाधाओं को दूर करने एवम प्रकृति की क्रियाओं को सुचारू रूप से संचालित करने प्रकट होते है तो मुढ़ लोग उन्हें भी सदाहरण जीव मान लेते है।

भगवान् का मानवीय शरीर कर्मजन्य नहीं होता। वे अपनी इच्छा से ही प्रकट होते है और स्वतन्त्रतापूर्वक मत्स्य, कच्छप, वराह आदि अवतार लेते हैं। इसलिये उन को न तो कर्मबन्धन होता है और न वे शरीर के आश्रित होते हैं। प्रत्युत शरीर उन के आश्रित होता है, वे प्रकृति को अधिकृत करके प्रकट होते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि सामान्य प्राणी तो प्रकृति के परवश होकर जन्म लेते हैं तथा प्रकृतिके आश्रित होकर ही कर्म करते हैं, पर भगवान् स्वेच्छा से, स्वतन्त्रता से अवतार लेते हैं और प्रकृति भी उन की अध्यक्षता में काम करती है।

परमात्मा निर्गुण ही है उन के सगुण स्वरूप में निर्गुण परमात्मा को प्राप्त करना ही समपर्ण है। जो उन के सगुण स्वरूप को नही समझते वो ही मूढ माने जाते है। प्रकृति परिवर्तनशील है, जो आज है कल नही होगा, ब्रह्म शाश्वत है फिर भी अज्ञानी पुरुष परिवर्तनशील प्रकृति में स्थायी सुखों को खोजता है। उसे ब्रह्म से मुक्ति या मोक्ष नहीं चाहिए, वरन उसे अपनी सांसारिक समस्याओं का निदान चाहिए। वह अपने कर्मो पर कोई ध्यान नहीं देना चाहता, वह परमात्मा से चाहता है कि वह उस के पापों का भार वहन करे और उसे सुख प्रदान करे। ऐसे लोगो के भगवान ने मूढ़ शब्द का प्रयोग किया है।

गीता संवाद के माध्यम से दिया हुआ ज्ञान है। परब्रह्म अपने ऐश्वर्य योग अर्थात अपने स्वरूप का वर्णन करने के बाद, अर्जुन के यही कह रहे है कि इस के पश्चात भी अनेक मुढ पुरुष मुझे प्रकृति के स्वरूप में देखते है। मुझ से अपनी कामनाओं की पूर्ति की आशा रखते है, प्रकृति में अहम एवम कामना जन्य दुखो से छुटकारा पाना चाहते है। मूढ़ का अर्थ हम

उन लोगो से लेते है जो तथ्यों से अपरिचित नही है किंतु उन का विवेक उन के लोभ, मोह, काम मे नष्ट हो जाता है और वह लोग अपनी इच्छाओं के परवश होते है। उन के लिये अवतरित भगवान और सामान्य जीव में कोई अंतर नही रहता। राम को रावण और कृष्ण को कंस ने लाख समझाने पर भी सदाचरण मनुष्य ही समझ कर अपने स्वार्थ के लिये वैरी माना। यह कटाक्ष भी है उन अज्ञानी लोगो के लिये परमात्मा का मजाक बनाते है, उन की निंदा करते है और उन के शाश्वत स्वरूप को नही समझ पाने से, उन की लीलाओं को सदाहरण मनुष्य की लीला मानते है।

व्यवहार में जब हम ने यह समझ लिया कि परमात्मा अव्यक्त, अकर्ता और अभोक्ता है और समस्त क्रियांए प्रकृति करती है, इसलिए कार्य - कारण के सिद्धांत से जो कुछ हमारे साथ हो रहा है वह पूर्व में हमारे ही कर्ता और भोक्ता भाव से लिए कर्मों का फल है। इस में परमात्मा का कोई हस्तक्षेप नहीं होता किंतु हम अज्ञान में जप, तप, यज्ञ, दान या पूजा करते हुए, उसे भोग लगा कर लालच देते है कि वह हमारा कार्य कर दे, हमारे कष्ट मिटा दे, हमारे बच्चों की शादी या काम लगवा दे। कामना और आसक्ति में जीने वाले ऐसे लोग जो परमात्मा को मुक्ति या मोक्ष के लिए नहीं भजते हुए, प्रकृति के क्षणिक सुखों के लिए भजते है, वे मूढ या मूर्ख कहलाए गए है। जो जैसा करेगा वैसा ही भरेगा, चाहे इस जन्म में या फिर आने वाले जन्म में, इस को ले कर परमात्मा को दोष देना, या उस का अनादर करते हुए उस से विमुख होना मूर्ख लोगों का काम है। इसलिए स्वार्थ और आसक्ति में यह लोग परमात्मा के अवतार को भी नहीं समझ पाते और उस को भी साधारण मनुष्य या जीव समझते है। वह परमात्मा जो इतनी बड़ी सृष्टि का संचालन अपनी योगमाया और प्रकृति से करता है, वह अनंत और असीम है, उसे अवतार लेने से कोई नहीं रोक सकता। उसे वो ही पहचान सकते है जो उसे स्वार्थ, कामना, आसक्ति और लोभ को त्याग कर श्रद्धा, प्रेम और विश्वास के साथ स्मरण करते है और उस के प्रति समर्पित है।

इसलिए अज्ञानी होना कोई समस्या नहीं है, समस्या यह है कि अज्ञान को अपने सर पर भार के साथ ढोना और सत चित्त आनंद की बजाए, प्रकृति के क्षणिक सुखों की ओर भागना। फिर क्या जो दिन भर माला फेरते है, भजनकीर्तन करते है, भागवत सुनते है या जप करते है, व्यर्थ है। तो हम इसे व्यर्थ नहीं कहेंगे जब तक यह उपासना अर्थात श्रवण, मनन और निदिध्यासन के साथ न हो। हमारे कर्म पुण्य कर्म न हो। यदि पाप को बटोरेंगे और भगवान को याद करते हुए उन के दुखों से मुक्ति चाहेंगे तो यह मूर्खता ही होगी।

जो परमात्मा को उन के सगुण स्वरूप में नही पहचान पाते उन के भगवान आगे क्या बताते है, पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।।9.11।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.12॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥

"moghāśā mogha- karmāṇo,
mogha- jñānā vicetasaḥ..।
rākṣasīm āsurīṁ caiva,
prakṛtiṁ mohinīṁ śritāḥ"..।।

भावार्थ:

ऎसे मनुष्य कभी न पूर्ण होने वाली आशा में, कभी न पूर्ण होने वाले कर्मो में और कभी न प्राप्त होने वाले ज्ञान में विशेष रूप से मोहग्रस्त हुए मेरी मोहने वाली भौतिक प्रकृति की ओर आकृष्ट होकर निश्चित रूप से राक्षसी वृत्ति और आसुरी स्वभाव धारण किए रहते हैं। (१२)

Meaning:

With useless desires, useless actions and useless knowledge, the unintelligent take refuge in delusory, devilish and evil nature.

Explanation:

After following this chapter so far, we may wonder why has Shri Krishna spent so much time in addressing our erroneous notion of Ishvara? He has done so because erroneous knowledge is the start of a chain of consequences that can either uplift or ruin our life, not just from a spiritual but also material perspective. He illustrates that chain in this shloka.

Krishna said that there are some people who are very clear who have diagnosed the problem, and they are taking to the right course, but there are many other people who are still groping in darkness. They do not know what exactly they want. They think that this is the goal for some time; and acquire it; and they find that they do not get what they wanted. And then the replaced the goal with another one; again, acquired and no satisfaction; so these people are confused people, Krishna talked about the confused people; unlucky and unfortunate ones.

These confused people Krishna says they have wrong knowledge, wrong desire, wrong effort and therefore wrong result. Those people who do not have viveka ṣakti; whose satva guṇa is overpowered; they are called vicētasaḥ; avivekinaḥ. And the problem is we are all avivekis, indiscriminate people; knowing this alone, the scriptures have come to assist us; but because of our intellectual arrogance; neither we will know by ourselves; nor we will expose ourselves to the teaching of the scriptures.

They all have wrong understanding and expectations; and what are the wrong expectations; everything impermanent is mistaken as permanent; they think power is permanent; position is permanent; people around will be permanent; above all, money think permanent.

Therefore, Krishna says their actions will be kāma pradhāna actions; or krōdhaḥ pradhāna actions; either their actions are born out of attachment; or their actions are born out of hatred; so rākṣasīm and āsurīṁ; the difference is: one is rāgaḥ, pradhāna; another is dveṣaḥ pradhāna.

Consider a child born into a family that gives utmost important to the acquisition of money but does not emphasize the ethical means of doing so. Such an erroneous knowledge starts a chain of consequences. The child always desires money, and all his actions are directed towards the pursuit of money.

Shri Krishna calls these useless desires and useless actions. All of these eventually lead to increasingly worse character traits in the child. He can undertake delusory actions (gambling), evil actions (stealing) or worse yet, devilish actions (murder), all because of the wrong notion that acquisition of money is paramount.

Broadly, if we start with the erroneous notion that our body and mind is everything and that Ishvara is a distant finite entity, all our desires and actions will be directed towards ensuring that our body can live comfortably. We will continue to make external adjustments such as moving to a new city or changing jobs in search of comfort and security, to continually appease our body and mind, and to gain freedom from sorrow. Since we have not acquired the knowledge of our true nature and Ishvara's true natures, we will never understand that Ishvara is our ultimate source of security and the ultimate freedom from sorrow.

So we have seen that erroneous knowledge about Ishvara can lead to ultimate ruin. Who then, are those people that, having had the correct knowledge, develop the right type of relationhip with Ishvara? This is taken up next.

।। हिंदी समीक्षा ।।

प्रस्तुत श्लोक में भगवान कृष्ण का संकेत उन लोगो की तरफ है जिन की आशाएं, कर्म एवम ज्ञान इहलोक में ही सुखों की प्राप्ति पर है। उन के सत्य वही है जो इन्द्रिय गोचर है। ध्यान दे, तो हम अपने आप से लेकर चारो ओर ऐसे लोग बहुत पाएंगे जो सुबह उठते ही भगवान को याद करते है, दिन की शुरुवात चाय से, फिर घूमने, योग और शारीरिक व्यायाम करने के बाद, स्नान कर के भगवान के मंदिर या घर मे दिया। फिर दिन भर व्यापार- व्यवसाय जिस में सुबह का ज्ञान स्वरूप बदल कर पूर्णतयः लोभ एवम स्वार्थ में धन के लिए कार्य करना है। शाम को पार्टी। कबूतर को कितना भी उड़ाओ, घूम कर अपने चौबारे में आ बैठ जाता है। वह जानते हुए नही समझना चाहता है कि यह इन्द्रिय गोचर संसार माया है, उस का लक्ष्य मोक्ष है। **वह इस असत को ही सत मान कर प्रवचन भी करता है, अपने ही मकड़ जाल में**

फसा "घट्ट कुट्टी प्रभात न्याय" अर्थात रोज सुबह वही का वही रहता है। यदि कुछ बदल रहा है, तो आयु, शरीर, संसार और निरन्तर जुड़ते-घटते कर्म। यही आसुरी प्रवृति की ओर ले जाने का मार्ग है, जहां विभिन्न योनियों में जन्म-मरण के अतिरिक्त कुछ भी नही। ऐसे मूढ़ जीव की सब आशाएं, कर्म और ज्ञान व्यर्थ होता है। योग का अर्थ चिंतन है, परमात्मा का चिंतन करना और उस से जुड़ना, किन्तु हम लोग सीखते है योग का अर्थ शारीरिक व्यायाम करना, अर्थ संचय करना, आश्रम चलाना और माया जनित मिथ्या ज्ञान का प्रचार एवम प्रसार करना। हम सोचते है कि योग का अर्थ है सब कुछ भूल कर शून्य हो जाना अर्थात खो जाना। किन्तु जब तक परमात्मा का चिंतन न हो तो किस में खो सकते है। परब्रह्म में विलीन होने के परब्रह्म का एकाग्र चिंतन ही योग है, बिना चिंतन के योग करने से अहम, कामना और आसक्ति योग के समय सुप्त और योग से उठते ही जाग्रत हो जाती है। हम वही के वही।

परमात्मा को सदाहरण मनुष्य समझ कर व्यवहार करने वाले लोगो मूढ कहा गया है क्योंकि वे **मोघाशा** - जिन की आशाएँ, कामनाएँ व्यर्थ हों ऐसे व्यर्थ कामना करनेवाले और **मोघकर्मा** - व्यर्थ कर्म करने वाले होते हैं क्योंकि उनके द्वारा जो कुछ अग्निहोत्रादि कर्म किये जाते हैं वे सब अपने अन्तरात्मारूप भगवान् का अनादर करने के कारण निष्फल हो जाते हैं। इसलिये वे मोघकर्मा होते हैं। इसके अतिरिक्त वे **मोघज्ञानी** - निष्फल ज्ञानवाले होते हैं, अर्थात् उनका ज्ञान भी निष्फल ही होता है। इन का ज्ञान तात्विक अर्थ से शून्य एवम युक्ति युक्त नही होता। वे विचेता अर्थात् विवेकहीन भी होते हैं। तथा वे मोह उत्पन्न करनेवाली देहात्मवादिनी राक्षसी और आसुरी प्रकृति का यानी राक्षसों के और असुरों के स्वभाव का आश्रय करनेवाले हो जाते हैं। अभिप्राय यह कि तोड़ो, फोड़ो, पिओ, खाओ, दूसरों का धन लूट लो इत्यादि वचन बोलनेवाले और बड़े क्रूरकर्मा हो जाते हैं। श्रुति भी कहती है कि वे असुरों के रहने योग्य लोक प्रकाशहीन हैं इत्यादि। इन का चित्त भी विक्षिप्त माना जाता है। यह लोग दूसरों का अनिष्ट करने, उन्हें कष्ट देने, क्लेश करने आदि में सुख का अनुभव करते है।

इन सांसारिक प्रवृति के लोगो का सुख मात्र इंद्रियाओ जनित सुख पर टीका रहता है। इन का व्यवहार भी पशुवत एवम ज्ञान एवम तर्क भी सांसारिक सुखों तक सीमित रहते है जिस के कारण धोखा, हत्या, लड़ाई झगड़ा, खून खराबा, मार काट आदि ही इन का धर्म होता है। यह परमात्मा की सत्ता को नही मानते, पुराने युग मे रावण, कंस एवम आज के युग मे हिटलर या जेहादी इसी श्रेणी में आते है, इन को मनुष्य की श्रेणी में न रख कर राक्षस, असुर, डाकू, लुटेरा आदि ही बोला गया है।

गीता में भर्त्सना के रूप भगवान का यह कथन का अभिप्राय समझना भी आवश्यक है। मनुष्य का जन्म मोक्ष के लिये है यदि वो सांसारिक प्रवृति एवम कामना में जीता है तो यह उस जीव के संस्कार होंगे और यही संस्कार वो इस संसार मे आने वाली पीढ़ी को देगा। यदि तामसी प्रवृति का वर्चस्व बढ़ने लगता है तो ईश्वर इस सृष्टि के संतुलन के लिये संत, महात्मा महापुरुषों के रूप में जन्म ले कर इस को संतुलित करता है। एक ज्ञानी एवम निष्काम कर्मयोगी के रूप में हमारा कर्तव्य है कि हम अपनी पीढ़ी को सही दिशा दे और स्वयं भी सही को समझे। दुर्योधन दृष्टराष्ट्र एवम शकुनि की महत्वाकांक्षा की उपज था और रावण उस के नाना की। इसलिये अगले श्लोक में सही को तो हम पढेंगे किन्तु गलत क्या है इस को भी जाने, इसलिये भगवान श्री कृष्ण इन दो श्लोकों से हमे सचेत कर रहे है

जो शास्त्र विहित कर्म अनुकूल परिस्थिति प्राप्त करने की इच्छा से सकामभाव पूर्वक किये जाते हैं, वे ही कर्म व्यर्थ होते हैं अर्थात् सत्फल देनेवाले नहीं होते। भगवान् से विमुख हुए मनुष्य शास्त्रविहित कितने ही शुभकर्म करें, पर अन्त में वे सभी व्यर्थ हो जायँगे। कारण कि मनुष्य अगर सकामभाव से शास्त्रविहित यज्ञ, दान आदि कर्म भी करेंगे, तो भी उन कर्मों का आदि और अन्त होगा और उन के फल का भी आदि और अन्त होगा। वे उन कर्मों के फल स्वरूप ऊँचे ऊँचे लोकों में भी चले जायँगे, तो भी वहाँ से उन को फिर जन्ममरणमें आना ही पड़ेगा।

स्वर्ग चाहते हैं तो उन की ये सब कामनाएँ व्यर्थ ही होती हैं। कारण कि नाशवान् और परिवर्तनशील वस्तुकी कामना पूरी होगी ही - यह कोई नियम नहीं है। अगर कभी पूरी हो भी जाय, तो वह टिकेगी नहीं अर्थात् फल देकर नष्ट हो जायगी। भगवान् ने भी कहा है कि जिन की मेरे में श्रद्धा नहीं है अर्थात् जो मेरे से विमुख हैं, उन के द्वारा किये गये यज्ञ, दान, तप आदि सभी कर्म असत् होते हैं अर्थात् मेरी प्राप्ति कराने वाले नहीं होते। उन कर्मों का इस जन्म में और मरने के बाद भी (परलोकमें) स्थायी फल नहीं मिलता अर्थात् जो कुछ फल मिलता है विनाशी ही मिलता है। इसलिये उनके वे सब कर्म व्यर्थ ही हैं।

आस्था, श्रद्धा, विश्वास और प्रेंम के साथ बुद्धि और विवेक से ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन ग्राह्य एवम सत्य होता है किंतु इन चारो गुण से बाहर यही ज्ञान अहम, कामना, आसक्ति, लोभ एवम प्राकृतिक सात्विक- राजसी एवम तामसी प्रवृति का मार्ग खोल देता है। जिस में तामसी एवम आसुरी प्रवृतियां ही प्रमुख होती है। क्या कारण है, अगिनत धर्म गुरु, जगह

जगह पाठ-कीर्तन, प्रवचन एवम दान धर्म के रहते भी आसुरी एवम तामसी प्रवृतियां खत्म नही होती ?

जानने योग्य यही है कि शाब्दिक ज्ञान, वेद और शास्त्रो के मंत्र और उस की विवेचना आदि में इन में कोई कम नही होता । रावण प्रकांड ज्ञानी था, उस ने स्वयं स्तुतियों, भाष्य की रचना करी, किन्तु राम को वह मनुष्य ही मानने की भूल अपने अहम के कारण करता था। आज भी कई पढ़े-लिखे लोग दुष्ट एवम स्वार्थी प्रवृति के लोगो के साथ अपनी सांसारिक महत्वाकांक्षा के कारण खड़े है। महाभारत में कौरव सेना भी इसी का उदाहरण है।

व्यवहार में भौतिक जीवन जीने के लिए ज्ञान, इच्छा और कर्म से व्यक्ति जीवन जीता है। ज्ञान सांसारिक पुस्तकों से जो स्कूल और कॉलेज में पढ़ाया जाता है, वह जीविका उपार्जन का ज्ञान है। किंतु अपने आप को जानना, मोक्ष के प्रयत्न करना और बुरे कर्मो से बचने के शास्त्रों का ज्ञान श्रवण, मनन और निदिध्यासन से प्राप्त होता है। सांसारिक ज्ञान से उत्पन्न इच्छा से जो प्राप्त होता है वह स्थायी नही है और इसी कारण राग और द्वेष, काम और क्रोध मनुष्य को घेर लेते है और हम अपनी विवेक शक्ति भी खोने लगते है। यही कारण है कि यदि हम आध्यात्मिक पुस्तको को पढ़ते रहे और अच्छे लोगो का सत्संग करे तो ही हमारी विवेकशक्ति सही रहेगी।

विवेक शक्ति के अभाव में प्राकृतिक और भौतिक जीवन अनिवार्य लगता है और इसी से अहंकार जन्म लेता है और जीव अपने को उच्च और ज्ञानी समझता है और किसी भी आध्यात्मिक ज्ञान को व्यर्थ समझ कर या तो करता नही है या फिर अपने सुखों की आपूर्ति के लिए करता है। यही मूढ अवस्था है। इसी के कारण संसार में हिंसा, बलात्कार, लूट कसोट, धार्मिक अंधविश्वास आदि जन्म लेते है। अतः सही ज्ञान और संस्कार बचपन से ही नही दिए जाए तो समाज की दिशा भोगी और रोगी की होगी। क्योंकि बड़े होने के बाद ऐसे लोगो को समझाना भी कठिन है। इन का जीवन का अर्थ यही है कि जन्म ले कर पढ़ाई करो, शादी करो, बच्चे पैदा करो और उन्हें पालो और काम करते करते बूढ़े हो कर गुजर जाओ। इन का ज्ञान चाहे कितना भी आध्यात्मिक हो, वह सांसारिक ही होता है, इसलिए पूरा जीवन प्रकृति के सुख और दुख में व्यतीत हो जाता है। मनुष्य योनि में जन्म लेने का इस के अतिरिक्त कोई कार्य नहीं होता।

आगे हम भगवान को मानने वालों के बारे में पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।।9.12।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.13॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्यम् ॥

"mahātmānas tu māṁ pārtha,
daivīṁ prakṛtim āśritāḥ..।
bhajanty ananya- manaso,
jñātvā bhūtādim avyayam"..।।

भावार्थ:

हे पृथापुत्र! मोह से मुक्त हुए महापुरुष दैवीय स्वभाव को धारण करके मेरी शरण ग्रहण करते हैं, और मुझको सभी जीवात्माओं का उद्गम जानकर अनन्य-भाव से मुझ अविनाशी का स्मरण करते हैं। (१३)

Meaning:

But noble individuals take refuge in my divine nature, O Paartha. Knowing me as the imperishable source of all beings, they worship me single-mindedly.

Explanation:

Shree Krishna's style of discourse is that He drives the point home by making starkly contrasting comparisons. After describing the ways of the deluded and confused, He now talks about the great souls. Material life is a prolonged dream, which is being experienced by the souls who are sleeping under the sway of the material energy. In contrast, the great souls are those who have woken up from their ignorance and brushed aside material consciousness like a bad dream. Released from the grips of the material energy, Maya, they are now under the shelter of the divine Yogmaya energy. Such enlightened souls have woken up to the spiritual reality of their eternal relationship with God.

Shri Krishna now begins to describe those individuals who have understood the true, divine nature of Ishvara. These “mahaatmaas” or noble individuals treat Ishvara as their one and only one refuge, and worship him with unwavering devotion. With a view to instruct us in the ways of such noble individuals, Shri Krishna devotes the next few shlokas to this topic.

The word “aashritaha” or refuge is key to understanding this shloka. What does this word mean? It is how we answer the question “when I am in trouble, what do I turn to?”. Most of us have various sources of refuge. For some, it is their ancestral inheritance. For some, it is their academic qualifications. For some, it is their family. Whenever we are in trouble, we pursue those avenues for comfort and security.

However, the mahaatmaas or noble individuals do not look to any of these sources for refuge. They have understood one simple fact: anything that can change over time is under the control of Prakriti. Prakriti, the realm of name and form, is every changing and can never be relied upon for support all the time. We ourselves would have encountered several instances where money or family did not help someone in their time of need. The noble individuals know that there is only one true refuge that is universal and unchanging: it is Ishvara.

Knowing this, what do the noble individuals do? They are “ananya manasaha”, they are singularly devoted to Ishvara. Even though they may be tempted by Prakriti’s play and dazzle of name and form, they know that ultimately every source of joy that it gives, turns into sorrow eventually. Furthermore, their devotion for Ishvara is not for the attainment for anything else. It is solely for the attainment of Ishvara.

In this verse, Shree Krishna mentions that great souls take shelter of the divine energy of God. The reason is that divine grace, knowledge, love, etc. are all God’s divine energies, and are all subservient to the divine

Yogmaya energy, which is Radha. Hence, by the grace of Yogmaya, one receives the love, knowledge, and grace of God. Great souls, who receive divine grace, become endowed with divine love, and engage in uninterrupted devotion toward God.

Just as God has both aspects to His personality–the formless and the personal form–His Yogmaya energy also possesses both aspects. It is a formless energy, but it also manifests in the personal form as Radha, Sita, Durga, Lakshmi, Kali, Parvati, etc. All these divine personalities are manifestations of the divine energy of God, and they are all non-different from each other, just as Krishna, Ram, Shiv, Narayan, etc. are non-different forms of the one God.

Unlike these noble individuals, most of us still rush into Prakriti for joy, comfort, security and support. But Prakriti teaches us a lesson over our lifetime when we repeatedly seek joy which turns into sorrow. How do the noble individuals remain focused in Ishvara while living in the world of Prakriti? We shall see next.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व श्लोक में राक्षसी एवम आसुरी प्रवृति के तामसिक गुणों के बताने के बाद भगवान श्री कृष्ण उन लोगो के बारे में बताते है कि जो देवताओ के गुण अर्थात जिस से आत्मा का स्तर ऊपर उठे। इन्हें देवी प्रकृति से सम्पन्न लोग बताया गया है। देवी प्रकृति और आसुरी प्रवृति को हम अलग से भी पढ़ेंगे।

इस प्रकार के लोग शम, दम, श्रद्धा, दया, उदारता आदि सदगुणों से सपंन्न होते है एवम इस समस्त प्रकृति के होने का कारक परमात्मा को मानते हुए उस के अविनाशी स्वरूप को भजते है। यह लोग मेरे अवतरित स्वरूप को मूढ लोगो से समान नही समझते और मुझे अनन्त स्वरूप को पहचान कर मुझे भजते है। यहां भगवान कृष्ण अपने अवतार स्वरूप को प्रकट कर रहे है।

जब जीव अपना और प्रकृति के सम्बंध को जान लेता है, उस का नश्वर जगत से मोह समाप्त हो जाता है। उस का जीवन कामना, आसक्ति और अहम से परे हो जाता है, जिस के कारण उस के कर्म लोकसंग्रह के लिए होने लगते है। देवी संपन्न गुण का प्रादुर्भाव होने से वह परमात्मा की शरण मे चला जाता है एवम उस के भक्ति भाव मे खो जाता है।

परमात्मा कहते है मैं सम्पूर्ण प्राणियों का आदि हूँ और अविनाशी हूँ। तात्पर्य है कि संसार उत्पन्न नहीं हुआ था, उस समय में मैं था और सब संसार लीन हो जायगा उस समय में भी मैं रहूँगा - ऐसा मैं अनादिअनन्त हूँ। अनन्त ब्रह्माण्ड, अनन्त सृष्टियाँ, अनन्त स्थावरजङ्गम प्राणी मेरे से उत्पन्न होते हैं, मेरे में ही स्थित रहते हैं, मेरे द्वारा ही पालित होते हैं और मेरे में ही लीन होते हैं परन्तु मैं ज्यों का त्यों निर्विकार रहता हूँ अर्थात् मेरे में कभी किञ्चिन्मात्र भी कमी नहीं आती। मेरे से अनन्त सृष्टियाँ पैदा होनेपर भी मेरे में किञ्चिन्मात्र भी कमी नहीं आती क्योंकि मैं सब का अव्यय बीज हूँ। जिन मनुष्यों ने मेरे को अनादि और अव्यय जान लिया है, वे अनन्य मन से मेरा ही भजन करते हैं।

ब्रह्म अपने स्वरूप अव्यक्त है तो भी जिस ने प्रकृति की रचना की है, वह व्यक्त स्वरूप में भी प्रकट होता है। इसलिए ज्ञानी ही जानता है कि व्यक्त के विभिन्न स्वरूपों में प्रकट अव्यक्त ब्रह्म एक ही है, फिर वह राम हो या कृष्ण या शिव या नानक या कबीर या गणेश या साधारण जीव आदि आदि। इसलिए वह इन में भेद भाव नहीं करते हुए, ब्रह्म के सभी व्यक्त स्वरूप में उसी अव्यक्त ब्रह्म को ही देखता और भजता है। संसार में धर्म के नाम पर जो स्वार्थ, अहम और लोभ के कारण वर्चस्व की लड़ाई तथाकथित धर्म गुरुओं ने अपने अपने अनुयायियों में भ्रांति फैला कर की है, यह उन सब का अज्ञान और भौतिकवाद ही है। किंतु जो ज्ञानी और महात्मा है, वह किसी में कोई भेद नहीं देखता।

अर्जुन युद्ध में भीष्म और द्रोण को मारे जाने कल्पना से भय भीत हो कर भगवान श्री कृष्ण की शरण में जाता है। जबकि अभी युद्ध भी नही शुरू हुआ और दोनों की मृत्यु भी नही हुई। महात्मा या संत भी किसी भी कार्य को करने से पूर्व ही परमात्मा की शरण जाते है क्योंकि उन्हें समझ में आता है जो भी हो रहा है या जो भी होना है, वह प्रकृति की क्रिया है, वे निमित्त मात्र है। इसलिए वे किसी भी कार्य को निष्काम और निर्लिप्त भाव से आलस्य त्याग कर, अपने पूर्ण दक्षता से, लक्ष्य को निर्धारित करते हुए करते है और उस के फल या परिणाम की कोई आशा या आकांक्षा नही रखते। यही गीता में अर्जुन को भगवान समझा रहे है।

देवी सम्पति गुणों को सोलहवें अध्याय में बताया गया है, यह गुण को धारण करने वाला कभी भी अभिमानी नही हो सकता क्योंकि गुण प्रभु की कृपा से प्राप्त होते है। ये किसी के उत्पन्न किये हुए नहीं है अर्थात् ये किसी की व्यक्तिगत उपज, बपौती नहीं हैं। जो इन गुणों को अपने पुरुषार्थ के द्वारा उपार्जित मानता है अर्थात् स्वाभाविक न मानकर अपने बनाये हुए मानता है, उसको इन गुणों का अभिमान होता है। यह अभिमान ही वास्तव में प्राणी की व्यक्तिगत उपज है, जो नष्ट होने वाली है। देवी सम्पद गुण यदि तामसी गुणों से युक्त हो जाये तो देवी सम्पद नही होता।

इसी प्रकार स्मरण हेतु परमात्मा ने अनन्य भाव का वर्णन किया है अर्थात श्रद्धा, प्रेम, विश्वास और पूर्ण समर्पण के साथ स्मरण होना। यदि व्यापार, व्यवहार या अन्य क्रिया भी की जाए तो भी अटूट स्मरण ह्रदय में चलता रहे। याद रहे, भगवान ने अर्जुन को उन की यही कहा था कि मुझे ह्रदय में धारण कर के युद्ध कर।

यहां व्यवहारिक दृष्टिकोण से हमे समझना चाहिये कि हम यदि मेहनती या ईमानदार है तो हमे किसी मे बुराई खोजने, उस की निंदा करने या उस का अपमान करने का भी अधिकार नही है। अपने गुणों को ईश्वर की देन समझ कर, अन्य से प्रतिस्पर्धा या ईर्ष्या आदि, किसी भी गुणों को ले कर नही करना चाहिये। ज्ञान किसी की बपौती नही, सभी जीव परमात्मा का ही स्वरुप है और यदि आप को प्रभु की कृपा से ज्ञान प्राप्त हो गया ही तो यह अन्य को भी प्राप्त हो सकता है। इसी प्रकार अन्य को हानि पहुचाने या धन-बल कमाने, काम, क्रोध ईर्ष्या आदि के साथ भजन करना या दान धर्म करना भी देवी सम्पद गुण नही है।

मोक्ष अथवा परमात्मा की शरण में जाने का अर्थ सांसारिक सन्यास नहीं है। सत गुण में भी व्यक्ति अन्य की भांति व्यापार, व्यवसाय, सेवा और जीवन के सभी आश्रमों में रह सकता है। अनन्य भक्त और सन्यासी गृहस्थ भी होते है। देश की रक्षा के लिए सीमा में खड़ा सैनिक, देश का नेतृत्व करने के राजनीतिज्ञ या व्यापार या व्यवसाय करने वाला डॉक्टर, वकील, व्यापारी कोई भी देवीसंपत हो सकता है। वह व्यक्ति जो परमात्मा की शरण में रह कर निष्काम कर्म योग करता है,उस के कार्य लोक कल्याण के हो जाते है। जो सन्यासी हो कर भी स्वार्थ और लोभ में जीवन व्यतीत करता है, वह आसुरी वृति में है। किसी को उस के कार्य या क्रिया से पहचानने से अच्छा है उस को उस के अंतर्मन, परमात्मा के प्रति समर्पण और उस के निस्वार्थ और निर्लिप्त भाव से पहचाना जाए।

भजन करनेवालों का वर्णन पढ़ने के बाद आगे उनके भजन का प्रकार पढ़ते हैं।

।। हरि ॐ तत सत।।9.13।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.14॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

"satataṁ kīrtayanto māṁ,
yatantaś ca dṛḍha- vratāḥ..।
namasyantaś ca māṁ bhaktyā,
nitya- yuktā upāsate"..।।

भावार्थ:

ऎसे महापुरुष दृड़-संकल्प से प्रयत्न करके निरन्तर मेरे नाम और महिमा का गुणगान करते है, और सदैव मेरी भक्ति में स्थिर होकर मुझे बार-बार प्रणाम करते हुए मेरी पूजा करते हैं। (१४)

Meaning:

Always glorifying me with resolute effort, and venerating me devotedly, they are constantly engaged in my worship.

Explanation:

Shri Krishna begins to enumerate the qualities of those noble individuals that have gained knowledge of Ishvara's infinite nature. We should try to bring as many qualities as we can into our lives, and not think that they are only for some select extraordinary people.

Firstly, Shri Krishna says that these noble individuals perform "keertan" and "bhajan". Typically, we tend to think of keertan means

singing glories of the Names, Forms, Qualities, Pastimes, Abodes, and Associates of God is called kīrtan generally in front of a deity. But here,

the meaning is deeper. Keertan here means the three step process of hearing scriptures (shravanam), resolving doubts (mananam) and internalizing the knowledge (nidhidhyaasanam). It is only through this process that the true nature of Ishvara is understood.

It is also imperative to perform keertan as frequently as possible. As we have seen so far, Prakriti needs no help in order to ensnare us daily with the temptation of name and form. Also, Prakriti is not just responsible for visible objects but also thoughts, feelings, emotions and memories that can lead to straying away from Ishvara. Repeated keertan is the only way to guard against such distractions. The mind is as restless as the wind, and naturally wanders from thought to thought. Hearing and chanting engage the knowledge senses in the divine realm, which helps in repeatedly bringing back the mind from its wanderings.

All the famous bhakti Saints–Soordas, Tulsidas, Meerabai, Guru Nanak, Kabir, Tukaram, Ekanath, Narsi Mehta, Jayadev, Tyagaraja, and others–were great poets. They composed numerous devotional songs, and through them, they engaged in chanting, hearing, and remembering.

“The best process of devotion in the age of Satya was simple meditation upon God. In the age of Tretā, it was the performance of sacrifices for the pleasure of God. In the age of Dwāpar, worship of the deities was the recommended process. In the present age of Kali, it is kīrtan alone.”

Shri Krishna also emphasizes the power of “vrata” or resolution. Most spiritual traditions encourage practices like fasting or abstaining from pleasures during certain days. Observance of such vows strengthens our will power so that we can use that inner strength towards fending off Prakriti. Knowledge of Ishvara, without the will power to remain established in that knowledge, will not work. If someone cannot even remain without food for a day, it will be difficult for them to deal with the might of Prakriti.

Another aspect of the noble individuals is that they do “namaskaara” to Ishvara, which means that they offer themselves to Ishvara. When things are going well, it is easy to accept the will of Ishvara. However, many individuals begin to lose faith in Ishvara when they go through a rough period in their lives. True veneration happens when we realize that even the rough period in our life happens for a reason that we will understand in the course of time.

Broadly speaking, Shri Krishna wants the devotee to dedicate not just his intellect but also his mind. Unless we engage with anything at an emotional level, our pursuit will always be dry, academic and partial. It will be like a PhD student who forgets what he learned right after he receives his degree.

So therefore, Shri Krishna says that individuals with these qualities are the true devotees. They have understood the true method of “upanasanaa”, of worshipping Ishvara. That is why they remain “nitya yukta” or always united and connected with Ishvara, and also, Ishvara remains ever united with them.

Next, Shri Krishna enumerates the different ways in which these noble individuals worship Ishvara.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व श्लोक में देवी सम्पद गुणों से युक्त महात्मा एवम उच्च श्रेणी के लोगो के बारे में हम ने जाना। यह लोग दृढ़निश्चय वाले लोग होते है जिन्होंने अपना सम्बन्ध परमात्मा से जोड़ लिया। ये लोग सभी जीव में परमात्मा को ही देखते है एवम परमात्मा की प्राप्ति के लिये ही कर्म करते है। परमात्मा के प्रति इन का निश्चय, इन की श्रद्धा, इन के विचार, इन के नियम इतने दृढ़ होते है कि कोई भी विपत्ति इन को परमात्मा के प्रति इन की निष्ठा को डिगा नही सकती। मन से शुद्ध हो कर परमात्मा का नाम लेते है, भजन कीर्तन करते है, भजन कीर्तन करते करते भाव विभोर हो कर नृत्य करने लगते है। इन के समस्त कर्म निष्काम होते है। यह दुसरो की सेवा भी भगवान की सेवा समझ कर ही करते है। परमात्मा के प्रति समर्पित यह तन, मन, धन एवम कर्म से परमात्मा को ही भजते है।

भगवान के नाम, रूप, गुण, लीला, धाम और संतों की महिमा का गुणगान करना कीर्तन कहलाता है। भक्ति योग मार्ग के अनुयायी संत सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई, कबीर, तुकाराम, एकनाथ, नरसी मेहता, जयदेव, त्यागराज चेतन्यमहाप्रभु, मीरा, भरत आदि महान कवि थे। इन्होंने भक्ति रस से पूर्ण सुंदर काव्य और भजनों की रचना की जिनके द्वारा वे भगवान की महिमा के गायन, श्रवण और स्मरण में निमग्न रहे। वैदिक ग्रंथ भी विशेष रूप से कलियुग में भक्ति के सुगमतम और सशक्त माध्यम के रूप में कीर्तन पद्धति की सराहना करते हैं।

सतयुग में भक्ति का उत्तम साधन सरलतम विधि द्वारा भगवान का ध्यान करना था। त्रेता युग में यह साधन भगवान के सुख के लिए यज्ञों का अनुष्ठान करना था और द्वापर युग में मूर्ति पूजा पद्धति अनुशंसित प्रक्रिया थी। वर्तमान कलियुग में केवल कीर्तन का महत्व है।

भक्त के भजन कीर्तन गायन करते हुए इतने भाव विभोर हो जाते है कि तुसलीदास जी को भी कहना पड़ा **मम गुन गावत पुलक सरीरा। गद गद गिरा नयन बह नीरा ।** भरत जी के राम कीर्तन को तुलसी दास ने वर्णन करते हुए कहा है **पुलक गात हिय हिय रघुवीर। जीह नाम जप लोचन नीरू।।** मुनि अगस्त्य के शिष्य सुतीक्ष्ण कीर्तन करते हुए नाचते है **कबहुँ क नृत्य करहि गुन गाई।** भक्तों के प्रेम एवम समर्पण में परमात्मा का स्मरण अद्वितीय एवम अलौकिक होता है, उन के कीर्तन से ही सम्पूर्ण वातावरण शुद्ध एवम सात्विक हो जाता है।

आत्मसंगठन एवं आत्मविकास के दो अन्य मुख्य मार्ग बताये गये हैं अनन्य भक्ति और यज्ञ भावना से किये जाने वाले निष्काम कर्म। श्रद्धाभक्ति पूर्वक अपने आदर्श ईश्वर की पूजा करना और उनके यश कीर्ति प्रताप का गान करना, उस मन की मौन क्रिया है जो विकसित होकर अपने आदर्श को सम्यक् रूप से समझता है तथा जिनका गौरव गान करना उस ने सीखा हैं। अतः कीर्तन या व्रत के शाब्दिक अर्थ न हो कर एक निष्ठ हो कर परमात्मा की उपासना करना है। कीर्तन का पारमार्थिक अर्थ श्रवण, मनन और निदिध्यासन से लिया जाता है क्योंकि चंचल मन जब भटकने लगता है तो जोर जोर से लय और ताल के साथ जब परमात्मा को याद करना शुरू हो जाता है, तो भटकता मन भी परमात्मा में ही आ कर टिक जाता है और कीर्तन करने वाले को संसार की सुध बुध नही रहती, वह एक तरह से परमात्मा में लीन हो कर उसे भजता जाता है।

अनेक लोग दिनभर संदिग्ध कार्यों में व्यस्त रहते हुए रात्रि में किसी स्थान पर एकत्र होकर उच्च स्वर में कुछ समय तक भजनकीर्तन करते हैं और तत्पश्चात् उन्हीं अवगुणों के कार्य

क्षेत्रों में पुन लौट जाते हैं। इन लोगों के कीर्तन की अपेक्षा सामाजिक कार्यकर्ताओं की समाज सेवा और ज्ञानी पुरुष के हृदय में प्राणिमात्र के लिये उमड़ता प्रेम ईश्वर का अधिक श्रेष्ठ और प्रभावशाली कीर्तन है।

संत हृदय सात्विक लोग अपनी दृढ़ इच्छा शक्ति को परमात्मा के प्रति समर्पित करने हेतु उपवास और व्रत करते है और नियम से पूरे समय रहते है। कीर्तन और व्रत उपवास के अतिरिक्त नमन अर्थात परमात्मा के प्रति श्रद्धा, प्रेम, और विश्वास के साथ सर को झुका कर अपने को समर्पित करते है। यह जीव का अपने अहंकार को त्याग कर उस परमात्मा के प्रति समर्पण होता है, जो इस पूरे संसार का पालन करता है।

अतिभोतिक, अतिदैविक और आध्यात्मिक जगत में जीव का अस्तित्व नगण्य से भी कम अर्थात शून्य होता है। अपने अहंकार में वह बड़े बड़े से कामों को अंजाम देता है। किंतु जो जानता है कि यह जो कुछ भी कार्य होता है, वह उस के कारण नही, उस को निमित्त बना कर प्रकृति ही करती है। वह हमेशा अहंकार की अपेक्षा परमात्मा के समक्ष उन के अनुग्रह और सहयोग के लिए अपनी कृतज्ञता के स्वरूप बार बार नमन करता है। जिस से उस का विवेक जाग्रत रहे और उसे अच्छे कर्म की प्रेरणा मिलती रही और प्रत्येक कार्य में उस के प्रति परमात्मा का अनुग्रह भी बना रहे।

अधिकतर लोगों का धारणा यह होती हैं कि सप्ताह में किसी एक दिन केवल शरीर से यन्त्र के समान पूजन अर्चन, व्रत उपवास आदि करने मात्र से धर्म के प्रति उन का उत्तरदायित्व समाप्त हो जाता है। उन्हें इतना करना ही पर्याप्त प्रतीत होता है। फिर शेष कार्य उनके काल्पनिक देवताओं का है, जो साधना के फल को तैयार करके इनके सामने लायें, जिस से ये लोग उस का भोग कर सकें इस विवेकहीन, अन्धश्रद्धाजनित धारणा का आत्मोन्नति के विज्ञान से किञ्चित् मात्र संबंध नहीं है। वास्तव में धर्म तो तत्त्वज्ञान का व्यावहारिक पक्ष है। यदि कोई व्यक्ति वर्तमान जीवन एवं रहन सहन सम्बन्धी गलत विचारधारा और झूठे मूल्यांकन की लीक से हटकर आत्मोन्नति के मार्ग पर अग्रसर होना चाहता हो, तो उसके लिए सतत और सजग प्रयत्न अनिवार्य है। जीवन में जो असामंजस्य वह अनुभव करता है, और उसके मन की वीणा पर जीवन की परिस्थितियाँ जिन वर्जित स्वरों की झनकार करती हैं इन सब के कारण उसके अनुभवों के उपकरणों (इन्द्रियाँ, मनबुद्धि) की अव्यवस्था है। उन्हें पुर्नव्यवस्थित करने के लिए अखण्ड सावधानी, निरन्तर प्रयत्न और दृढ़ लगन की आवश्यकता है। इस प्रकार आत्मोद्धार के लिए प्रयत्न करते समय, शारीरिक कामवासनाओं

को उद्दीप्त करने वाले प्रलोभन साधक के पास आकर कानाफूसी करके उसे निषिद्ध फल को खाने के लिए प्रेरित करते हैं, परन्तु ऐसे प्रबल प्रलोभनों के क्षणों में उसे मिथ्या का त्याग करने का और सत्य के मार्ग पर स्थिरता से चलने का दृढ़ निश्चय करना चाहिए। विशुद्ध प्रेम ही वास्तविक भक्ति है।

परब्रह्म की उपासना के लिये श्रवण, मनन एवम निदिध्यासन तीन श्रेणी है। श्रवण का अर्थ है ज्ञान एवम कर्मेन्द्रियों से परमात्मा को याद करना, पुकारना, उन का जाप करना, भजन कीर्तन आदि। जिस से संसार की भौतिक दुखो एवम सुखों के अज्ञान की तरफ मन भी भटके। इस का दूसरा स्वरूप है, जब मन स्थिर एवम एकाग्र हो कर परमात्मा की ओर लगने लगे तो परमात्मा का मनन एवम चितन करना। श्रवण में संसार से विरक्ति है, मनन एवम चिन्तन में मन को परमात्मा से जोड़ना है। जब तक मन परमात्मा से नही जुड़ता, तब तक जीव प्राकृतिक प्राणी ही है। जब मन चिंतन एवम मनन से परमात्मा से जुड़ जाता है तो निदिध्यासन द्वारा अपने अहम को त्याग कर परमात्मा में लीन होना है। निदिध्यासन का अर्थ यह नही है कि जीवन समाप्त हो गया है, जीवन रहता है किंतु उस मे अहम, कामना या आसक्ति नही रहती। जब तक निदिध्यासन नही है तो चिंतन या मनन तक परमात्मा के साथ और उस के बाद प्रकृति के साथ जीव जीता है। यही कारण है कि पूजा के तुरंत बाद या दुकान खोलनेके समय हो जाये तो कीर्तन नही होता। इसलिये भगवान का भजन करने वालो के लिये श्रद्धा प्रेम, विश्वास के साथ समर्पण करने के अतिरिक्त दृढ़ संकल्प शब्द का भी वर्णन किया है। भजन-कीर्तन समय या दैनिक दिनचर्या का भाग न हो कर प्रभु के प्रति मोक्ष एवम समर्पण के दृढ़ संकल्प के साथ भी होना चाहिए।

वे दृढ़व्रती भक्त अर्थात् जिनका निश्चय दृढ़स्थिरअचल है ऐसे वे भक्तजन सदानिरन्तर ब्रह्मस्वरूप मुझ भगवान् का कीर्तन करते हुए तथा इन्द्रियनिग्रह, शम, दम, दया और अहिंसा आदि धर्मोंसे युक्त होकर प्रयत्न करते हुए एवं हृदय में वास करनेवाले मुझ परमात्मा को भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हुए और सदा मेरा चिन्तन करनेमें लगे रहकर, मेरी उपासना सेवा करते रहते हैं।

आत्मसंगठन एवं आत्मविकास के दो अन्य मुख्य मार्ग बताये गये हैं अनन्य भक्ति और यज्ञ भावना से किये जाने वाले निष्काम कर्म।

मनुष्य का भगवान् के साथ 'मैं' भगवान् का हूँ और भगवान् मेरे हैं', ऐसा जो स्वयं का सम्बन्ध है, वह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन अवस्थाओं में, एकान्त में भजन- ध्यान

करते हुए अथवा सेवारूपसे संसार के सब काम करते हुए भी कभी खण्डित नहीं होता, अटलरूप से सदा ही बना रहता है।

इस प्रकार मेरे अनन्यभक्त निरन्तर मेरी उपासना करते हैं। निरन्तर उपासना करनेका तात्पर्य है कि वे कीर्तन- नमस्कार आदि के सिवाय जो भी खाना- पीना, सोना- जगना तथा व्यापार करना, खेती करना आदि साधारण क्रियाएँ करते हैं, उन सबको भी मेरे लिये ही करते हैं। उनकी सम्पूर्ण लौकिक,पारमार्थिक क्रियाएँ केवल मेरे उद्देश्य से, मेरी प्रसन्नता के लिये ही होती हैं।

उपासना में समर्पण एवम स्मरण को पढ़ने के बाद आगे हम विभिन्न प्रकार उपासकों की उपासना की विधि को पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 9.14।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.15॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ते यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥

"jñāna-yajñena cāpy anye,
yajanto mām upāsate..।
ekatvena pṛthaktvena,
bahudhā viśvato- mukham"..।।

भावार्थ:

कुछ मनुष्य ज्ञान के अनुशीलन द्वारा यज्ञ करके, कुछ मनुष्य मुझे एक ही तत्व जानकर, कुछ मनुष्य अलग-अलग तत्व जानकर, अनेक विधियों से निश्चित रूप से मेरे विश्व स्वरूप की ही पूजा करते हैं। (१५)

Meaning:

Others, offering the sacrifice of knowledge, worship me with oneness, separateness and also multifaceted diversity.

Explanation:

Shri Krishna radically defines our notion of Ishvara worship in this shloka. He says that recalling and remembering the infinite nature of Ishvara throughout our lives is a form of worship called jnyaana yaganya or the sacrifice of knowledge. Unlike most forms of worship, we can perform it without any effort anytime, anywhere. All we have to do is to learn to see Ishvara in everything.

Those who follow the path of jñāna- yog consider themselves to be non-different from God. They contemplate deeply on sūtras such as: so 'haṁ (I am That), śhivo 'haṁ (I am Shiv), etc. Their ultimate goal is to attain realization of the Supreme Entity as the undifferentiated Brahman, which possesses the attributes of eternality, knowledge, and bliss, but is devoid of forms, qualities, virtues, and pastimes. Shree Krishna says that such jñāna yogis also worship Him, but in His formless all-pervading aspect. In contrast, there are varieties of aṣhṭāṅg yogis etc. who see themselves as distinct from God and relate to Him accordingly.

There are several spiritual traditions that have somewhat differing notions of Ishvara's nature. The tradition of Adi Shankaracharya, which this book tries to follow closely, views the jeeva and Ishvara as one. Acharya Ramanuja's tradition views jeeva as a part of Ishvara. Acharya Madhva's tradition views the jeeva and Ishvara as separate entities. Shri Krishna enumerates all of these viewpoints in this shloka, then reconciles all three by saying that all are equally valid as sacrifices of knowledge.

Regardless of the tradition followed, Shri Krishna urges us to continuously perform the sacrifice of knowledge so that we weaken our individuality while strengthening our faith in Ishvara. When we see more Ishvara in everything and everyone, our likes and dislikes start thinning down as well. We also

begin to realize that all our joys and sorrows are tied to our actions, and so we begin to treat everything as a “prasaada” or Ishvara’s gift.

Still others worship the manifest universe as God. In Vedic philosophy, this is called viśhwaroop upāsanā (worship of the cosmic form of God). In western philosophy, it is called “Pantheism” from the Greek words pan (all) and theos (God). The most famous exponent of this philosophy has been Spinoza. Since the world is a part of God, keeping a divine sentiment toward it is not wrong, but it is incomplete. Such devotees do not have knowledge of the other aspects of the Supreme Divine Entity, such as Brahman (God’s undifferentiated all-pervading manifestation), Paramātmā (the Supreme Soul seated in everyone’s hearts), and Bhagavān (the personal form of God).

Shri Krishna now begins to give us pointers on where and how to see Ishvara.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व श्लोक में स्मरण एवम समर्पण करते हुए भजन एवम कीर्तन द्वारा प्रभु की आराधना को जाना। अब परमात्मा उन के विषय मे बता रहे है जो ज्ञान यज्ञ द्वारा उन्हें प्राप्त करते है।

ज्ञान का अर्थ है जो चीज जैसी है उसे उसी रूप में ठीक से जानना। इस के लिये स्वाध्याय करना एवम भगवान के अठारहवे अध्याय के अनुसार गीता के धर्ममय संवाद का अध्ययन करना भी ज्ञान यज्ञ है। यह सम्पूर्ण सृष्टि एक मात्र परमात्मा के संकल्प से उत्पन्न हुई है एवम सृष्टि का कण कण पृथक्त्व एवम एकत्व भाव से एक ही परमात्मा का स्वरूप है।

जीव का प्रकृति से सम्बन्ध अनित्य एवम दुख का कारण है क्योंकि जो स्वयं नाशवान है उस से सम्बंध भी स्थायी नही होगा। अपने स्वरूप को पहचाना एवम अज्ञान को नष्ट करना ही ज्ञान है।

परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान से ही आकलन कर के उस के द्वारा सिद्ध हो जाना। परमेश्वर का ज्ञान द्वेत एवम अद्वेत आदि भेदों में एकत्व एवम पृथक्त्व आदि अनेक रूप में होते हुए भी एक मात्र परमेश्वर तक पहुचता है। ज्ञान यज्ञ का स्वरूप के अनुसार शरीर, इन्द्रिय और

मन द्वारा होने वाले समस्त कर्मो में, मायामय गुण ही गुणों को बरत रहे है - ऐसा मानते हुए कर्ता पन के अभिमान से रहित रहना, सम्पूर्ण दृश्य वर्ग को मृग तृष्णा के जल सदृश्य या स्वप्न के संसार के समान अनित्य समझना, तथा एक सच्चिदानंदघन निर्गुण निराकार पर ब्रह्म परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता न मान कर निरंतर उसी का श्रवण, मनन एवम निदिध्यासन करते हुए उस सच्चिदानंदघन ब्रह्म में नित्य अभिन्न भाव से स्थित रहना ही ज्ञान यज्ञ है।

प्रारम्भिक अवस्था में सर्वत्र आत्मदर्शन की साधना प्रयत्न साध्य होने के कारण उस में साधक को कष्ट और तनाव का अनुभव होता है। परन्तु जैसे जैसे साधक की आध्यात्म दृष्टि विकसित होती जाती है, वैसे वैसे उस के लिए यह साधना सरल बनती जाती है और वह एक ही आत्मा को इसके ज्योतिर्मय वैभव के असंख्य रूपों में छिटक कर फैली हुई देखता है। यही है विश्वतो मुखम् ईश्वर का विराट् स्वरूप।ज्ञानी पुरुष न केवल यह जानता है कि नानाविध उपाधियों से आत्मा सदा असंस्पर्शित है, अलिप्त है, वरन् वह यह भी अनुभव करता है कि विश्व की समस्त उपाधियों में वही एक आत्मा क्रीड़ा कर रही है। एक बार आकाश में स्थित जगत् से अलिप्त सूर्य को पहचान लेने पर, यदि हम उसके असंख्य प्रतिबिम्ब भी दर्पणों या जल में देखें, तब भी एक सूर्य होने का हमारा ज्ञान लुप्त नहीं हो जाता। सर्वत्र हम उस एक सूर्य को ही देखते और पहचानते हैं।

परमेश्वर सर्व व्याप्त है, समस्त विश्व उसी से ही उत्पन्न है। यह विश्व रूप में परमात्मा ही है, इसलिये चंद्र, सूर्य अग्नि, इंद्र, वरुण आदि विभिन्न देवता तथा और भी समस्त प्राणी उस एक और मात्र एक परमात्मा का स्वरूप है। इस जगत की समस्त क्रिया एवम कार्य का कर्ता एक मात्र परमात्मा है, इस प्रकार से पृथक्त्व भाव से एकत्व भाव को जानना ही ज्ञान है। इसी प्रकार जगत के समस्त कार्य यथा योग्य निष्काम भाव से सेवा करते हुए करना ही ज्ञान यज्ञ है।

ब्रह्म ज्ञान के जीव निर्गुणकार ब्रह्म की उपासना करता है या प्रारम्भ में उस के सगुणाकार स्वरूप में शिव, विष्णु, कृष्ण या राम आदि किसी भी रूप में उपासना करता है। परमात्मा का कहना है, ज्ञान के साथ उस के किसी भी स्वरूप की उपासना करने से वह उसे ही प्राप्त होती है।

यदि कोई पुरुष अपने मन की शान्ति और समता को किसी एकान्त और शान्त स्थान में ही बनाये रख सकता है, तो वेदान्त के अनुसार, उसका आत्मनुभव कदापि पूर्ण नहीं कहा जा

सकता है। यदि केवल समाधि स्थिति के विरले क्षणों में ही उसे आत्मानुभूति होती है, तो ऐसा पुरुष, वह तत्त्वदर्शी नहीं है, जिसकी उपनिषद् के ऋषियों ने प्रशंसा की है। यह तो हठयोगियों का मार्ग है।

अन्तर्बाह्य सर्वत्र एक ही आत्मतत्त्व को पहचानने वाला ही वास्तविक ज्ञानी पुरुष है। एक तत्त्व सबको व्याप्त करता है परन्तु उसे कोई व्याप्त नहीं कर सकता। ऐसे अनुभवी पुरुष के लिए किसी व्यापारिक केन्द्र का अत्यन्त व्यस्त एवं तनावपूर्ण वातावरण हो या किसी भी कार्य का क्षेत्र हो, आत्मदर्शन के लिए उतना ही उपयुक्त है जितना हिमालय की घाटियों की अत्यन्त शान्त और एकान्त कन्दराओं का। वह चर्मचक्षुओं से नहीं, वरन् ज्ञान के अन्तचक्षुओं से सर्वत्र एकमेव अद्वितीय आत्मा का ही दर्शन करता है।

आत्मज्ञानी पुरुष जानता है कि उस की आत्मा ही अपने अनन्त साम्राज्य में सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त किये हुए हैं एक रूप में, पृथक् रूप में और विविध रूप में। वेदान्त प्रतिपादित दिव्यत्व की पहचान और अनन्त का अनुभव अन्तर्बाह्य जीवन में है। कोई संयोगवश प्राप्त यह क्षणिक अनुभव नहीं है। यह कोई ऐसा अवसर नहीं है कि जिसे लड्डू वितरित कर मनाने के पश्चात् सदा के लिए उस अनुभव से निवृत्ति हो जाय। जिस प्रकार विद्यालयी शिक्षा से मनुष्य द्वारा प्राप्त किया गया ज्ञान समस्त कालों और परिस्थितियों में यहाँ तक कि स्वप्न में भी उसके साथ रहता है, उससे भी कहीं अधिक शक्तिशाली, कहीं अधिक अंतरंग और कहीं अधिक दृढ़ ज्ञानी पुरुष का आत्मानुभव होता है। आत्मवित् आत्मा ही बन जाता है।

व्यवहार में ईश्वर के प्रति अनपढ़ या अज्ञान में धारणा एक ऐसे शक्तिशाली पुरुष की होती है जो मनुष्य नही कर सकता, वह कर सकता है। व्यक्ति प्रकृति और संकट से अपनी रक्षा का मार्ग खोजता है और फिर ऐसे ईश्वर का आश्रय लेता है जो उसे इन सब से बचा सके। इसलिए जंगल में आदिवासी के देवता वन देवता होते है। और सामान्य जन के देवता सगुण कोई भी हो जाता था।

परंतु ज्ञान की वृद्धि से यह समझ में आने लगता है कि यह संसार की रचना करने वाला ही ईश्वर है। वह जन जन में बसा हुआ है तो ईश्वर का स्वरूप बदल कर एक से अधिक मुख या हाथो वाला, सभी कार्य को नियंत्रित करने वाला और अच्छे बुरे का फैसला कर न्याय देने वाला और संकटों से हमारी रक्षा करने वाला हो जाता है। व्यक्ति जीवन को जीता कितना है यह पता नही किंतु समय चक्र से वह बालक से जवान और वृद्ध होने से पूरा जीवन खाने - पीने, निर्वाह के लिए काम करने, शादी और बच्चे पैदा कर के उन्हे बड़ा करने या सुखों की

तलाश में ही निकल जाता है। इन सब में ईश्वर उस के आत्मविश्वास को बनाए रखने का सहारा बन जाता है। किंतु उसे करना क्या है, पता नही होता।

संसार की रचना करने वाला और सभी के हृदय में रहने वाला ईश्वर जब संसार के सभी कार्य में लिप्त है तो उसे यह उत्तर देना कठिन होता है कि चोरी, बलात्कार, हिंसा या हत्या और अनैतिक कार्य करने वाला यदि ईश्वर नही है तो कौन है? क्यों वह व्यक्ति या अबोध बालक अनहोनी का शिकार होता है जिसे वह नही करता या संकट उसे ज्यादा झेलने पड़ते है जो भगवान की पूजा करता है और अपराधी मजे करता है।

यह ईश्वर के बहु रूप में पूजा है या अव्यक्त स्वरूप में, परंतु ईश्वर के संपूर्ण ज्ञान के अभाव में यह व्यक्ति हमेशा अस्थिर मन का ही रहता है। अधिकांशतः इस अवस्था में ईश्वर की आराधना में सांसारिक या परासांसारिक सुखों की कामना या आसक्ति जुड़ी रहती है।

क्योंकि यह द्वितीय अवस्था का ईश्वर का ज्ञान आस्था और विश्वास पर है, इसलिए संसार में विभिन्न मतों, संप्रदाय और धर्म का प्रदुर्भाव भी होता है और कभी कभी या प्राय आस्था में अंध विश्वास भी जन्म ले लेती है। यही आस्था में मेरा ईश्वर तुम्हारे ईश्वर से बड़ा है, मतभेद और हिंसा का कारण होती है। मजेदार बात यह है कि ज्ञान की प्रथम अवस्था में जहां ईश्वर व्यक्ति की सुरक्षा और चमत्कार से भरा हो, वहां ईश्वर को ले कर कोई हिंसा नही होती।

तीसरी स्थिति उन ज्ञानी पुरुषो की है जो ईश्वर के सगुण, निर्गुण या व्यक्त या अव्यक्त स्वरूप के परे ज्ञानयोग से साक्षी, सर्वव्याप्त, अकर्ता और नित्य स्वरूप को देखते है। उन के अनुसार ईश्वर में सृष्टि की रचना नही की किंतु सृष्टि की रचना का कारण वही है। उस का ईश्वर एक रूप या बहू रूप नही हो कर अरूप अर्थात सर्वव्याप्त और अव्यक्त है।

ईश्वर के ज्ञान या ईश्वर के स्वरूप में वृद्धि मनुष्य के ज्ञान के साथ साथ ही होती है। क्योंकि ईश्वर मनुष्य से ऊपर है और जैसे जैसे मनुष्य का ज्ञान बढ़ता है, उस का ईश्वर भी सीढ़ी दर सीढ़ी बढ़ता है।

यही कारण अनुभव और ज्ञान के आधार में अनेक ऋषि मुनियों ने परमात्मा के विषय में अनेक सिद्धांत रचे है जिस में प्रमुख द्वैत, अद्वैत, विशिष्ठाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि प्रमुख है।

जिस एकत्व एवम पृथक्त्व भाव परमेश्वर का स्वरूप बताया गया है अब उसी पृथक्त्व स्वरूप का निरूपण आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।।9.15।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.16॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥

"ahaṁ kratur ahaṁ yajñaḥ,
svadhāham aham auṣadham..।
mantro 'ham aham evājyam,
aham agnir ahaṁ hutam"..।।

भावार्थ:

हे अर्जुन! मैं ही वैदिक कर्मकाण्ड को करने वाला हूँ, मैं ही यज्ञ हूँ, मैं ही पितरों को दिये जाने वाला तर्पण हूँ, मैं ही जडी़-बूटी रूप में ओषधि हूँ, मैं ही मंत्र हूँ, मैं ही घृत हूँ, मैं ही अग्नि हूँ और मैं ही हवन मै दी जाने वाली आहूति हूँ। (१६)

Meaning:

I am the vedic ritual, I am the sacrifice, I am the oblation, I am the herb, I am the chant, I am the butter, I am the fire and I am the act of offering.

Explanation:

Shri Krishna begins to enumerate several opportunities to see Ishvara in our life. It is not enough to consider Ishvara as a finite resident in a picture or an idol. We should be able to incorporate Ishvara in all aspects of our lives. In this shloka, Shri Krishna emphasizes work as a connection to Ishvara by saying that Ishvara is present within all aspects of action.

In these verses, Shree Krishna gives a glimpse into the various aspects of His infinite personality. Kratu means yajña (sacrifice), such as agnihotra yajñas mentioned in the Vedas. It also refers to the yajñas, such as vaiśhva deva that are described in the Smṛiti scriptures. Auṣhadham refers to the potency in medicinal herbs.

During the time of the Mahabharata war, Vedic rituals were a part and parcel of life and were well understood by all. To that end, Shri Krishna asks Arjuna to view Ishvara in each and every aspect of the vedic ritual. Since such rituals comprise herbs, butter, chanting, fire, and offering of oblations, Shri Krishna says that Ishvara is present in all of them. Arjuna would have had no trouble in ensuring that Ishvara was ever present in such a ritual after he heard this shloka.

We, however, lack exposure to such rituals, and therefore we adapt this shloka towards any action that we perform daily. For example, if we are cooking a meal for our family, we can see Ishvara in the cooking flame, in the spices, in the vegetables, in the oil, in the knife and so on. Or if we spend a lot of time creating documents on the computer, then we can try to see Ishvara in the laptop, the mouse, the word document, the browser and so on.

Shri Krishna, by redefining action as worship of Ishvara, does not demarcate when and who can worship Ishvara. Sant Kabirdas was a cobbler and Arjuna was a warrior. But both of them could access Ishvara without leaving their respective professions. We have the opportunity to do the very same thing. It is our attitude while performing our work which is most important.

Further means to access Ishvara are provided next.

।। हिंदी समीक्षा ।।

परमात्मा ही सम्पूर्ण सृष्टि का आदि और अंत है। परा और अपरा प्रकृति दोनो ही परब्रह्म से उत्पन्न है। ब्रह्मा ने संसार की रचना की तो परब्रह्म ने ब्रह्मा की रचना की, इस लिये वह पिता का पिता अर्थात पितामह है। अतः इस श्लोक में भगवान श्री कृष्ण कहते है गुणत्रय प्रकृति से उत्पन्न प्रत्येक कर्म का कारण वही है।

पूर्व के श्लोक में हम ने ज्ञान की वृद्धि के साथ ईश्वर के प्रति वृद्धि को समझा कि कैसे एक सगुण चमत्कारी और शक्तिशाली देवता से हम ईश्वर के विभिन्न स्वरूप में जगत के निर्माण, पालन और संहार कर्ता ईश्वर है। किंतु इस में अच्छे और बुरे दोनो स्वरूप में ईश्वर होने के असमंजस की स्थिति हो जाने से, हम ने ईश्वर को अव्यक्त, साक्षी, सर्व व्याप्त, अकर्ता, नित्य और जगत का कारण समझा। किंतु जो अव्यक्त है उस ईश्वर की पहचान कैसे करे, तो इस के लिए भगवान श्री कृष्ण अब कुछ श्लोक में अपने अव्यक्त स्वरूप को कहते है।

हम ने पहले भी पढ़ा था कि अबोध बालक को किसी भी वस्तु का या रंगो आदि का अज्ञान नही होता। किंतु बताने और समझाने से वह लाल को लाल रंग में देखता है और सेब को सेब के रूप में और इसी में श्रवण, मनन और निदिध्यासन से वह आगे का ज्ञान प्राप्त करता है। वैसे ही अव्यक्त स्वरूप में परमात्मा को सात्विक और चित्तशुद्ध भाव में कैसे देखे, अब जानते है।

इस श्लोक में उक्त विचार को इसके पूर्व भी एक प्रसिद्ध श्लोक में व्यक्त किया गया था। हवन क्रिया तथा उसमें प्रयुक्त विविध सामग्रियों के रूपक के द्वारा इस श्लोक में आत्मा की सर्वरूपता एवं सर्वात्मकता का बोध कराया गया है। कर्मकाण्ड में वर्णित कर्मानुष्ठान ही पूजाविधि है। वेदों में उपदिष्ट यज्ञ कर्म को क्रतु तथा स्मृतिग्रन्थों में कथित कर्म को ही यज्ञ कहा जाता है, जिसका अनुष्ठान महाभारत काल में किया जाता था। पितरों को दिया जाने वाला अन्न स्वधा कहलाता है। अर्जुन को यहाँ उपदेश में बताया गया है कि उपर्युक्त ये सब क्रतु आदि मैं ही हूँ। इतना ही नही वरन् यज्ञकर्म में प्रयुक्त औषधि, अग्नि में आहुति के रूप में अर्पित किया जाने वाला घी (आज्यम्), अग्नि, कर्म में उच्चारित मन्त्र और हवन क्रिया ये सब विविध रूपों में आत्मा की ही अभिव्यक्ति हैं। जब स्वर्ण से अनेक आभूषण बनाये जाते हैं, तब स्वर्ण निश्चय ही यह कह सकता है कि मैं कुण्डल हूँ, मैं अंगूठी हूँ, मैं कण्ठी हूँ, मैं इन सब की चमक हूँ आदि।

पंचकोशों में अन्नमय कोश में अन्न ग्रहण कर के अग्नि से अर्थात ऊर्जा से उसे पका कर विभिन्न खनिज और लवण शरीर की आवश्यकता के अनुसार शरीर उस अन्न से प्राप्त करता है। प्रकृति प्रदत्त शरीर के निर्माण से संचालन तक में यह यज्ञ की भांति ही है।

यज्ञ' से तात्पर्य है- 'त्याग, संकल्प बलिदान, शुभ कर्म'। अपने प्रिय खाद्य पदार्थों एवं मूल्यवान सुगंधित पौष्टिक द्रव्यों को अग्नि एवं वायु के माध्यम से समस्त संसार के कल्याण के लिए यज्ञ द्वारा वितरित करना। गीता में शुभ कर्मों को यज्ञ से संबोधित किया है। यज्ञ एक संकल्प भी है कुछ करने के लिए। यज्ञ के विचार से यज्ञ की तीन श्रेणी तय की गई है जिन्हें हम श्रोत्र अर्थात वैदिक, स्मार्त अर्थात तांत्रिक एवम पौराणिक अर्थात मिश्र कह सकते है। तांत्रिक यज्ञ विशिष्ट उद्देश्य से किया गया यज्ञ है, तंत्र हम यांत्रिक उपकरण भी पकड़ सकते है। क्रतु शब्द श्रोत्र यानि वैदिक यज्ञ के लिये है। हवन क्रिया तथा उसमें प्रयुक्त विविध सामग्रियों के रूपक के द्वारा इस श्लोक में आत्मा की सर्वरूपता एवं सर्वात्मकता का बोध कराया गया है। भगवान श्री कृष्ण पृथक्त्व से एकत्व भाव एवम सब कुछ परमात्मा ही है यज्ञ के माध्यम से बता रहे है।

कर्ता मैं हूँ। वस्तुतः कर्ता के पीछे प्रेरक के रूप में सदैव संचालित करने वाला इष्ट ही है। कर्ता द्वारा जो पार लगता है, मेरी देन है। यज्ञ मैं हूँ। ऋतु अर्थात श्रोत्र यज्ञ मैं हूँ, यज्ञ अर्थात स्मार्त यज्ञ भी हूँ। यज्ञ की आराधना की विधि विशेष है। पूर्ति काल मे यज्ञ जिस का सृजन करता है, उस अमृत को पान करनेवाला पुरुष सनातन ब्रह्म में प्रवेश पा जाता है। स्वधा अर्थात श्राद्ध से पितरों को अर्पण किया हुआ अन्न, मैं हूँ अर्थात अतीत के अनन्त संस्कारो को विलय करना, उन्हें तृप्त कर देना मेरी देन है। भवरोग को मिटाने वाली औषधि मैं हूँ। मुझे पा कर लोग इस रोग से निवृत हो जाते है। मंत्र मैं हूँ। मन को श्वांस के अन्तराल में निरोध करना मेरी देन है। घृत, अग्नि एवम आहुति भी मैं हूँ। इस निरोध क्रिया में तीव्रता लाने वाली वस्तु आज्य अर्थात हवि भी मैं हूँ। मेरे ही प्रकाश में मन की सभी प्रवृतियां विलीन होती है। हवन अर्थात समपर्ण भी मै ही हूँ।

ऋतु एवम यज्ञ के अंतर को हम अस्त्र एवम शस्त्र के अंतर से समझ सकते है। मंत्र, हवि, औषध से जो हवन किया जाए जिस में विशिष्ट पद्धिति से मंत्र का उच्चारण हो उसे ऋतु कहेंगे। उन क्रतु, यज्ञ आदिकी विधि बतानेवाले ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद - ये तीनों वेद हैं। जिसमें नियताक्षरवाले मन्त्रों की ऋचाएँ होती हैं, उन ऋचाओं के समुदाय को ऋग्वेद कहते हैं। जिस में स्वरों सहित गाने में आने वाले मन्त्र होते हैं, वे सब मन्त्र सामवेद कहलाते हैं।

जिस में अनियताक्षर वाले मन्त्र होते हैं, वे मन्त्र यजुर्वेद कहलाते है। ये तीनों वेद भगवान् के ही स्वरूप हैं।

जिन पांच महाकर्म अर्थात महायज्ञ जो जीवन के लिए किए जाते है उन्हें पांच महायज्ञ का नाम दिया है। इस मे चूल्हा जलाना, चक्की पीसना, बुहारी लगाना, ओखली कूटना एवम जल को एक स्थान पर रखना। मुख्य तौर पर यह एक गृहस्थ के जीवन यापन के कर्म है, इन से निवृति हेतु ब्रह्मचर्य एवम अध्ययन, श्राद्ध एवम तर्पण, देवताओ का पूजन, भूतयज्ञ अर्थात नीच प्रवृति के जानवरों को भी भोजन एवम अतिथि सत्कार ऐसे पांच यज्ञ बताए गए है। अब सब यह भी जान गए होंगे कि रोटी बनते ही इन सब के लिये भी रोटी क्यों निकाल देते है।

परमात्मा अपने प्रकट स्वरूप में यज्ञ के प्रत्येक भाग में स्वयं को ही "मै हूँ" कह कर संबोधित कर रहे है अर्थात द्वेत है ही नही। जीव अर्थात यह आत्मा, अपरा एवम परा प्रकृति, यह कर्म, कर्ता, कारण, अर्पण, समर्पण सब कुछ वो ही एक मात्र परमात्मा ही है। अपने अंदर का यह भाव की जो कुछ है, जो हो रहा है सब परमात्मा ही है। परमात्मा के इसी स्वरूप में स्मरण, कीर्तन एवम यज्ञ द्वारा विलीन करना ही स्वयं को जानना है।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः' - इस जडचेतन, स्थावरजङ्गम आदि सम्पूर्ण संसार को मैं ही उत्पन्न करता हूँ और बारबार अवतार लेकर मैं ही इसकी रक्षा करता हूँ। इसलिये मैं 'पिता' हूँ। इस संसार को सब तरह से मैं ही धारण करता हूँ और संसार मात्र का जो कुछ विधान बनता है, उस विधान को ,बनाने वाला भी मैं हूँ। इसलिये मैं 'धाता' हूँ । जीवों की अपने- अपने कर्मों के अनुसार जिस जिस योनि में, जैसे- जैसे शरीरों की आश्यकता पड़ती है, उस उस योनि में वैसे- वैसे शरीरों को पैदा करनेवाली 'माता' मैं हूँ अर्थात् मैं सम्पूर्ण जगत की माता हूँ।

प्राणियों के लिये जो सर्वोपरि प्रापणीय तत्त्व है, वह 'गति' स्वरूप मैं ही हूँ। संसार मात्र का भरण पोषण करने वाला 'भर्ता' और संसार का मालिक 'प्रभु' मैं ही हूँ। सब समय में सब को ठीक तरह से जाननेवाला 'साक्षी' मैं हूँ। मेरे ही अंश होने से सभी जीव स्वरूप से नित्य निरन्तर मेरे में ही रहते हैं, इसलिये उन सब का 'निवास'- स्थान मैं ही हूँ। जिस का आश्रय लिया जाता है, वह 'शरण' अर्थात् शरणागतवत्सल मैं ही हूँ। बिना कारण प्राणिमात्र का हित करनेवाला 'सुहृद्' अर्थात् हितैषी भी मैं हूँ।

श्रद्धा विश्वास के अनुसार किसी को भी साक्षात् परमात्मा का स्वरूप मान कर उस के साथ सम्बन्ध जोड़ा जाय तो वास्तव में यह सम्बन्ध सत् के साथ ही है। केवल अपने मनबुद्धि में किञ्चिन्मात्र भी संदेह न हो। जैसे ज्ञान के द्वारा मनुष्य सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि में एक परमात्मतत्त्व को ही जानता है। परमात्माके सिवाय दूसरी किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, क्रिया,आदि की किञ्चिन्मात्र भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है - इस में उस को किञ्चिन्मात्र भी संदेह नहीं होता। ऐसे ही भगवान् विराट्रूप से अनेक रूपों में प्रकट हो रहे हैं अतः सब कुछ भगवान् ही भगवान् हैं - इस में अपने को किञ्चिन्मात्र भी संदेह नहीं होना चाहिये। कारण कि यह सब भगवान् कैसे हो सकते हैं यह संदेह साधक को वास्तविक तत्त्व से, मुक्ति से वञ्चित कर देता है और महान् आफत में फँसा देता है। अतः यह बात दृढ़ता से मान लें कि कार्यकारण रूपे स्थूल - सूक्ष्म रूप जो कुछ देखने, सुनने, समझने और मानने में आता है, वह सब केवल भगवान् ही हैं।

परमात्मा के इसी स्वरूप को आगे और विस्तार से पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 9.16।।

।। ज्ञानेश्वरी में ब्रह्म रूप यज्ञ का बहुत सुंदर वर्णन है ।। गीता विशेष 9.16 ।।

परब्रह्म में 'एकोSहं बहुस्याम प्रजायेय' वाला आदि संकल्प उत्पन्न होता है, वह इस यज्ञ का यज्ञ स्तम्भ है। पंचमहाभूत यज्ञ मंडप है और द्वेत यज्ञ पशु है। फिर पंचमहाभूतो के जो विशेष गुण अथवा इंद्रियां तथा प्राण है वही ज्ञान यज्ञ की सामग्री है। अज्ञान घृत है, जो इस यज्ञ में हवन करने के काम आता है। इस ज्ञान यज्ञ में मन और बुद्धिरूपी कुंडों में ज्ञानाग्नि धधकती रहती है। साम्य भावना को ही इस ज्ञान यज्ञ की सुंदर वेदी जानना चाहिए। विवेकयुक्त बुद्धि की कुशलता ही मंत्र की शक्ति है, शांति ही इस का यज्ञ पात्र है तथा जीव यज्ञ करने वाला यजमान है।

यही यज्ञकर्ता जीव ब्रह्मानुभव के पात्र में से विवेक रूपी महामंत्रों के द्वारा ज्ञान रूपी अग्नि के होम में द्वेत की आहुति देता है। जिस समय अज्ञान का अंत हो जाता है, उस समय यज्ञ करने वाला यजमान और यज्ञविधि दोनों का अवसान हो जाता है। फिर जब आत्मेक्य के जल में जीव अवभृथ स्नान करता है, तब भूत, विषय और इंद्रियां अलग अलग नहीं दिखाई

देती। आत्मेक्य बुद्धि के पूर्णतयः प्रतिबिम्ब हो जाने के कारण सब कुछ एक ब्रह्म रूप ही जान पड़ता है। वह सब कुछ मै ही था और अब भी वह सब कुछ मैं ही हूँ।

।। हरि ॐ तत सत ।। विशेष 9.16 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.17॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च॥

"pitāham asya jagato,
mātā dhātā pitāmahaḥ..।
vedyaṁ pavitram oṁkāra,
ṛk sāma yajur eva ca"..।।

भावार्थ:

इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का मैं ही पालन करने वाला पिता हूँ, मैं ही उत्पन्न करने वाली माता हूँ, मैं ही मूल स्रोत दादा हूँ, मैं ही इसे धारण करने वाला हूँ, मैं ही पवित्र करने वाला ओंकार शब्द से जानने योग्य हूँ, मैं ही ऋग्वेद (सम्पूर्ण प्रार्थना), सामवेद (समत्व-भाव) और यजुर्वेद (यजन की विधि) हूँ। (१७)

Meaning:

I am the father, mother, support and grandfather of this universe. I am the knowable, the purifier, the syllable Om, and the Rig, Saama and Yajur also.

Explanation:

Shri Krishna further elaborates on Ishvara's infinite all- pervading nature by asserting that he is the father, mother and grandfather of this universe. A father's nature is to protect the child and to push it to grow. A mother embodies the quality of nurture and impartiality, she will care for even the most misbehaved child. A grandfather is extremely attached to his grandchild and takes great pleasure in demonstrating affection towards the child,

whereas the father may sometimes not show affection openly. Shri Krishna says that Ishvara treats every being in the universe like a caring family would.

All these verses continue with the same topic i. e. viśvarūpa Īśvaraḥ. God is everything. So He says I am mother; because the Lord is ardhanāreśavara; father also two-in-one; in that age itself; I am both father and mother, which means I am the intelligent cause behind the creation and I am the very material cause of the creation. I am the grandfather also; which means I do not have a father who has created Me, I am the ultimate father; I am fatherless father; which means I was never born; I am the causeless cause of the creation. It is said that Lord Shiva, when asked for his great grandfather's name, replied "Shiva". There is no further cause of this universe other than Ishvara.

Another pointer to Ishvara is "dhaata" or sustainer. As we have seen earlier, it is Ishvara in his infinite nature that holds the universe together in a state of harmony, where everything is in its place. I am dhata means the dispenser, distributor of everything to the jīvās; according to their karma phalam. Anything that is to be given to a jīvā, I decide. What type of body you should get, male or female; animal or human, healthy or sick body; I decide the body that you should have; and what is the longevity and during the life, what all you should get? every one of you; not only human beings; even every animal and insect what they should get, I alone determine.

Ishvara is also the three Vedas which are ultimate source of knowledge in the universe, the only knowledge that needs to be known. Their essence is captured in the syllable "Om", which is considered the utmost purifier. "I am the oṅkāraḥ, the essence of all the vēdās, the crux of all the

vēdās." In other words, once we see Ishvara in everything, everything becomes pure. I have explained the three vēdās before; rig vēdā is a vēdā in

which ṛik mantras are there; and ṛik mantra is a mantra which is a metrical composition; which is in the form of poetry; poetic composition is ṛik mantra; whereas yajur vēdā is a vēdā consisting of yajur mantra; and yajur mantra is a mantra in prose form, So rik is padya rūpam; yajur is gadya rūpam; and then sāma means music; therefore sama vēdā is a vēdā in which sāma mantras are there; which means there are mantras, which is set of music; they never say sāma pārāyaṇam; they say sama gānam; yujur gānam, ṛik gānnam.

The next shloka contains a series of pointers to Ishvara which are considered the foundation of bhakti or devotion.

।। हिंदी समीक्षा ।।

परमात्मा ने इस अध्याय के आरंभ में राजगृह्य ज्ञान देने से पूर्व श्रद्धा एवम विश्वास से सुनने को कहा था। गीता में अर्जुन एवम कृष्ण का संवाद जीव एवम ब्रह्म का संवाद है। अतः जब सम्पूर्ण ब्रह्म का संकल्प यह जगत है तो ब्रह्म अपने परिचय में 'मैं' का प्रयोग एकत्त्व भाव के लिये करता है। भगवान स्वयं कहते कि कुछ अज्ञानी लोग उन के अवरित स्वरुप को ही परमात्मा मान लेते है, उन के लिये भगवान कृष्ण का "मैं" कहना अहम का विषय है। किंतु जो अनुसूय है, जिस की श्रद्धा, विश्वास और प्रेम परमात्मा के साथ है, वही परमात्मा के इस ज्ञान का सही अधिकारी है। जो विश्वरूप है जिस के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं, वहां "मैं" शब्द के अतिरिक्त अन्य शब्द का उपयोग भी कोई कैसे कर सकता है।

तृतीय प्रकार के भक्त के लिए परमात्मा अव्यक्त और विश्वरूप है तो वह कैसे पहचाना जा सकता है, उसी की यह कड़ी है।

जीव को भ्रम अपने कर्म, ज्ञान, सम्बन्धो, सुख-दुख और जन्म-मृत्यु आदि से पैदा होता है। इसलिये पूर्व श्लोक में समस्त कर्मो में परमात्मा द्वारा निमित्त बताया गया। अब सम्बन्धो एवम ज्ञान के विषय मे बताते है।

आत्मा कोई अस्पष्ट, अगोचर सत् तत्त्व नहीं कि जो भावरहित, संबंध रहित और गुण रहित हो। यह दर्शाने के लिए कि यही आत्मा ईश्वर के रूप में परम प्रेमस्वरूप है, परिच्छिन्न जगत् के साथ उसके सम्बन्धों को यहाँ दर्शाया गया है। मैं जगत् का पिता, माता, धाता और

पितामह हूँ। माता, पिता और धाता इन तीनों से अभिप्राय यह है कि वह जगत् का एकमात्र कारण है और उसका कोई कारण नहीं है। यह तथ्य पितामह शब्द से दर्शाया गया है। इसलिये भगवान कहते है कि मैं ही सम्पूर्ण जगत का धाता अर्थात धारण करने वाला, पिता अर्थात पालन करने वाला, माता अर्थात उत्पन्न करने वाला एवम पितामह अर्थात मूल उदगम हूँ।

धाता का अर्थ धारण अर्थात जगत की प्रत्येक गतिविधि का कारण होना है। वह ही कर्म फलों का निर्णायक भी है और प्रदान करने वाला। उस के बनाए नियमो में प्रकृति कार्य करती है। अतः सृष्टि में सर्ग से ले कर प्रलय तक और पुनः पुनः निर्माण के लिए एकमात्र कारण ब्रह्म ही है। वह छोटे बड़े सभी जीवों का जन्म दाता है और जीव और प्रकृति की समस्त क्रियाओं का धाता भी है। अर्थात जीव की समस्त क्रियाएं उसी के द्वारा की जाती है। फिर यदि हम कहें कि यह दुख मेरे साथ ही क्यों? तो जानना होगा कि कुछ भी घटित यदि होता है तो पूर्व के संचित कर्म का ही फल है। इसलिए मनुष्य को हमेशा अच्छे कर्म करते रहना चाहिए।

ब्रह्मा जी सृष्टि के रचयिता है और वो परमात्मा की नाभि से उत्पन्न कमल से पैदा हुए, इसलिये पितामह का सम्बंध बताया गया। किंतु यहां पितामह कहने का अर्थ यह भी है कि परमात्मा का कोई पिता नही है, वह शाश्वत है।

परमात्मा स्वयं सिद्ध है।यहाँ विशेष बल देकर कहा गया है कि जानने योग्य एकमेव वस्तु (वेद्य) मैं हूँ। इस बात को सभी धर्मशास्त्रों में बारम्बार कहा गया है आत्मा वह तत्त्व है जिसे जान लेने पर, अन्य सब कुछ ज्ञात हो जाता है। आत्मबोध से अपूर्णता का, सांसारिक जीवन का और मर्मबेधी दुखों का अन्त हो जाता है। देहधारी जीव के रूप में जीने का अर्थ है, अपनी दैवी सार्मथ्य से निष्कासित जीवन को जीना। वास्तव में हम तो दैवी सार्मथ्य के उत्तराधिकारी हैं परन्तु अज्ञानवश जीव भाव को प्राप्त हो गये हैं। अपने इस परमानन्द स्वरूप का साक्षात्कार करना ही वह परम पुरुषार्थ है, जो मनुष्य को पूर्णतया सन्तुष्ट कर सकता है।सम्पूर्ण विश्व के अधिष्ठान आत्मा को वेदों में ओंकार के द्वारा सूचित किया गया है। जहां एक दूसरे से पृथक रहने वाले ज्ञान मार्गो का मेल-मिलाप होता है जिसे पवित्र नाम से पुकारते है और आदि संकल्प रूपी ब्रह्म बीज से अंकुरित नाद स्वरूप घोष का मूल स्थान जो ओंकार है, वह भी मैं ही हूँ। उस ओंकार के कुक्षि में रहने वाले अकार, उकार और मकार यह तीनों अक्षर वेदों से साथ उत्पन्न हुए है, वे अक्षर भी मैं ही हूँ। हम अपने जीवन में

अनुभवों की तीन अवस्थाओं से गुजरते हैं जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। इन तीनों अवस्थाओं का अधिष्ठान और ज्ञाता (अनुभव करने वाला) इन तीनों से भिन्न होना चाहिए, क्योंकि ज्ञाता ज्ञेय वस्तुओं से और अधिष्ठान अध्यस्त से भिन्न होता है। इन तीनों अवस्थाओं से भिन्न उस तत्त्व को, जो इन को धारण किये हुये है, उपनिषद् के ऋषियों ने तुरीय अर्थात् चतुर्थ कहा है। इन चारों को जिस एक शब्द के द्वारा वेदों में सूचित किया गया है वह शब्द है " ॐ "। ॐ ही आत्मा है। इसलिये परमात्मा कहते है सभी वेदो द्वारा जानने योग्य बीज ओंकार में ही हूँ। मै ही ऋग्वेद, यजुवेद, सामवेद एवम 'च' से अर्थववेद हूँ।

सामान्य भाषा में वेद का अर्थ है "ज्ञान"। वस्तुत: ज्ञान वह प्रकाश है जो मनुष्य-मन के अज्ञान-रूपी अन्धकार को नष्ट कर देता है। वेद पुरातन ज्ञान विज्ञान का अथाह भंडार है। इसमें मानव की हर समस्या का समाधान है। वेदों में ब्रह्म (ईश्वर), देवता, ब्रह्मांड, ज्योतिष, गणित, रसायन, औषधि, प्रकृति, खगोल, भूगोल, धार्मिक नियम, इतिहास, रीति-रिवाज आदि लगभग सभी विषयों से संबंधित ज्ञान भरा पड़ा है।

ऋग्वेद का आयुर्वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद, सामवेद का गंधर्ववेद और अथर्ववेद का स्थापत्यवेद ये क्रमशः चारों वेदों के उपवेद बतलाए गए हैं। वेद के विभाग चार है: ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। ऋग-स्थिति, यजु-रूपांतरण, साम-गतिशील और अथर्व-जड़। ऋक को धर्म, यजुः को मोक्ष, साम को काम, अथर्व को अर्थ भी कहा जाता है। इन्ही के आधार पर धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और मोक्षशास्त्र की रचना हुई।

जिस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को द्विज संस्कार होने के कारण एवम शुद्र को एक जातीय संस्कार न होने के कारण कहा जाता है उसी प्रकार ऋग्वेद, यजुवेद एवम सामवेद में एकता के कारण त्रयी और विशेष धर्म के अर्थव वेद अलग कहा जाता है।

परमात्मा के स्वरूप का विस्तार से वर्णन 10, 11 एवम 12 अध्याय में किया गया है किंतु सम्बन्धो से जोड़ कर यहाँ परमात्मा स्वयम को प्रकट इसलिये कर रहे है क्योंकि अर्जुन का युद्ध मे मोह सम्बन्धो से हुआ था। सम्बन्ध होते ही भावना एवम विचार बदल जाते है, उन से आत्मिक रिश्ता जुड़ जाने से उस के दुख एवम सुख अपने लगते है। यदि यह सम्बन्ध परमात्मा से हो तो जीव का पृथक भाव समाप्त होता है। हम लोग बचपन से ही प्रार्थना करते आये है।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देव देव॥

आगे परमात्मा जीव में अपने स्वरूप के बारे क्या कहते है, पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 9.17।।

।। जीव और परमात्मा के तेरह सम्बंध ।। गीता विशेष 9.17 ।।

जीव अर्थात आत्मा के परमात्मा से 13 सम्बन्ध बताए गए है। जो इस प्रकार है।

1) माता

2) पिता

3) धाता

4) पितामह

5) गति- जीव प्रापक एवम ब्रह्म प्राप्य है।

6) भर्ता एवम पत्नी- परमात्मा पति एवम जीव पत्नी है

7) स्वामी एवम सेवक

8) साक्षी एवम साक्ष्य - ब्रह्म साक्षी एवम जीव साक्ष्य

9) आधार एवम आधेय - ब्रह्म आधार एवम जीव (संसार) आधेय है।

10) शरण एवम शरण्य - ब्रह्म रक्षक एवम जीव रक्ष्य - बिना प्रभु की शरण गए मुक्ती नही मिल सकती।

11) मित्र या सखा

12) गुरु एवम शिष्य

13) अंश एवम अंशी - जीव परमात्मा का ही अंश है।

गीता में वर्णित भगवान के जीव के साथ यह तेरह तरह के सम्बंध हम समय समय मे पढेंगे। चार सम्बन्ध अभी हम ने देखे है।

परमात्मा के संकल्प से परा एवम अपरा प्रकृति का जन्म हुआ। परा प्रकृति अर्थात जीव अनन्तः परमात्मा के स्वरूप या अंश है, जिस के कारण वह भी नित्य, अकर्ता एवम साक्षी है। उस का मूल सम्बन्ध परमात्मा से ही है, किन्तु भ्रमित हो कर कर्तृत्व एवम भोक्तत्व भाव से वह प्रकृति से अपना सम्बन्ध मान बैठा है। यही भ्रम उस के कार्य-कारण के सिंद्धान्त के कारण उसे कर्म फल का दायित्व देता है और वह जन्म-मरण के चक्कर मे फस जाता है। अध्याय 9 उस को परमात्मा के स्वरूप एवम सम्बन्ध को बता रहा है।

सामान्य तौर पर किसी से एक भी सम्बन्ध हो तो हमे वो कितना अधिक प्रिय हो जाता है फिर परमात्मा से तेरह तरह के सम्बंध होने के बावजूद जीव का अहम परमात्मा से उसे जुड़ने नही देता। यदि अहम न हो तो परमात्मा से अधिक प्रिय कोई नही।

।। हरि ॐ तत सत ।। विशेष 9.17 ।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.18॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

"gatir bhartā prabhuḥ sākṣī,
nivāsaḥ śaraṇaṁ suhṛt..।
prabhavaḥ pralayaḥ sthānaṁ,
nidhānaṁ bījam avyayam"..।।

भावार्थ:

मै ही सभी प्राप्त होने वाला परम-लक्ष्य हूँ, मैं ही सभी का भरण-पोषण करने वाला हूँ, मैं ही सभी का स्वामी हूँ, मैं ही सभी के अच्छे-बुरे कर्मो को देखने वाला हूँ, मैं ही सभी का परम-धाम हूँ, मैं ही सभी की शरण-स्थली हूँ, मैं ही सभी से प्रेम करने वाला घनिष्ट-मित्र हूँ, मैं ही सृष्टि को उत्पन्न करने वाला हूँ, मैं ही सृष्टि का संहार करने वाला हूँ, मैं ही सभी का स्थिर आधार हूँ, मै ही सभी को आश्रय देने वाला हूँ, और मैं ही सभी का अविनाशी कारण हूँ। (१८)

Meaning:

I am the outcome, nourisher, master, witness, abode, refuge and well-wisher. I am the origin, dissolution, sustenance, repository and the imperishable seed.

Explanation:

Shri Krishna gives 12 single-word pointers or indicators of Ishvara. These are considered the foundation of many bhakti traditions. A more exhaustive list is provided in the Vishnu Sahasranaama, the thousand names of Ishvara as Lord Vishnu.

Since the soul is a tiny part of God, its every relationship is with Him. However, in bodily consciousness, we look upon the relatives of the body as our father, mother, beloved, child, and friend. We become attached to them and repeatedly bring them to our mind, thereby getting further bound in the material illusion. But none of these worldly relatives can give us the perfect love that our soul yearns for. This is for two reasons. Firstly, these relationships are temporary, and separation is unavoidable when either they or we depart from the world. Secondly, even as long as they are alive, the attachment is based on selfishness and so it fluctuates in direct proportion to the extent by which self-interest is satisfied. Thus, the range and intensity of worldly love varies from moment to moment, throughout the day. "My wife is very nice….she is not so nice…she is ok….she is terrible," this is the extent of fluctuation of love in the drama of the world. He loves us selflessly, for He only desires our eternal welfare. Thus, God alone is our perfect relative, who is both eternal and selfless.

"Gatihi" means goal, destination or outcome. The karmaphaa, the fruit of our action, leads us to our destination or goal. The actions are the means, and the fruit of the actions is the goal. Shri Krishna says that Ishvara is the highest goal that we can aspire to. "Bhartaa" is the controller and supporter of the entire universe. It literally means someone who provides for his

family. Ishvara nourishes and takes care of all beings in this universe; hence he is the provider of the universe. Since he is also the ultimate controller and master, he is known as “Prabhuhu”.

When we are kids, we aspire to become like our parents. They provide for us and also control our activities. They are our gatihi, bhartaa and prabhuhu. But if they get too attached to us, they will continue planning our life even when we become adults. That is why Ishvara remains an unattached witness, or “saakshi”.

Furthermore, Ishvara is the “nivaasaha” or container of the universe. He is “sharanam”, the ultimate refuge when there is no one else left for us to turn to. He is a well-wisher or “suhrita”, someone who does not expect anything in return. Ishvara creates, dissolves and maintains the universe therefore he is “prabhavaha”, “pralaya” and “sthaanam”. He is also “nidhaanam”, the repository where all beings become unmanifest at the end of creation.

Finally, Ishvara is the seed that has created the universe. Unlike most seeds that can only generate one plant, Ishvara continues to create the universe infinitely, without modification. Hence, he is called the imperishable seed “avyayam beejam”. It means everything from creation to operation and operation to destruction.

।। हिंदी समीक्षा ।।

परमात्मा के अव्यक्त और अरूप होने पर उसे कोई कैसे जान सकता है, उसी श्रेणी में हम ने पूर्व में परमात्मा को कर्मकांड में विभिन्न यज्ञ में देखा, वेदों और पालक स्वरूप में देखा। जन्म से मृत्यु तक मनुष्य संबंध ही खोजता है, इसलिए शरीर से वह किसी को पिता, माता, भाई, बहन, मित्र आदि मान कर संबंध निभाता है। इस में परमात्मा के अंश होने से उस का परमात्मा से संबंध वास्तविक है जबकि सांसारिक संबंध अस्थायी और अवास्तविक भी है और अपने अपने स्वार्थ पर निर्भर है। हम यह भी कह सकते है कि जीव का जब अपने ही भौतिक शरीर से कोई संबंध नहीं है तो उस से बने संबंध भी वास्तविक नही होते किंतु

प्रकृति की कोमल भावनाएं संबंधों के आधार पर जुड़ती है, इस लिए परमात्मा से भी जीव को कैसे भाव से जुड़ना चाहिए, परमात्मा अपने संबंध कह रहे है।

समुंद्र में उठती लहरों का आपस में कोई संबंध स्थायी नही होगा। लहर का अस्तित्व भी अस्थायी है क्योंकि उस का समुंद्र में विलय हो जाना तय है। इसी प्रकार जीव के सांसारिक संबंध से उस का परमात्मा से संबंध स्थायी है ।

पूर्व श्लोक में परमात्मा ने चार सम्बंध बताए थे, अब आगे के संबंध बताते हुए कहते है।

मैं ही गति, अर्थात प्राप्त होने योग्य परमगति यानि कर्मफल देने वाला एवम सब भूतों की सब शारीरिक, मानसिक, इहलौकिक एवम पारलौकिक चेष्टाएँ जिस के आश्रय हो रही है, वो गति मैं ही हूँ। गति जीवन का प्रतीक माना गया है। समस्त ब्रह्मांड गतिशील अपनी धुरी एवम अपने तारा मंडल में धूम रहा है। जीवन चक्र भी गतिशील है। काल कभी किसी का इंतजार नही करता, न ही उसे कोई रोक सकता है, किन्तु काल का स्वामी या काल स्वयं परब्रह्म ही है, क्योंकि यही समय से परे, स्थिर एवम नित्य है। प्रकृति काल से बंधी निरंतर गतिशील है और यही प्रकृति की गति को विश्राम मुझ में लीन हो कर मिलता है।

भर्ता अर्थात इस विश्वलक्ष्मी का स्वामी, सबका पोषण करनेवाला, प्रभु यानि सबका स्वामी हूँ अर्थात देवताओ के परम् देवत, पतियों के परम पति, समस्त भुवनों के स्वामी और परम पूज्य परमदेव हूँ , मेरे कारण ही सूर्य, अग्नि, इंद्र, वायु एवम मृत्यु आदि भय स्वरूप अपनी अपनी मर्यादा में स्थित है। इन सब का आधार मैं ही हूँ।

जो अनन्य भाव से मेरी शरण मे आता है, उस के जन्म-मरण के दुखमय चक्र का अंत मैं ही करता हूँ। इसलिये शरणागतों का शरण्य भी मै ही हूँ। मैं ही अनेकत्व धारण कर के प्रकृति के भिन्न भिन्न गुणों के द्वारा जगत के प्राण रूप से कर्म मै ही करता हूँ। द्रष्टा स्वरूप में प्राणियों के कर्म और अकर्म का साक्षी, जिस में प्राणी निवास करते हैं वह वासस्थान यानि शरण अर्थात् शरण में आये हुए दुःखियोंका दुःख दूर करनेवाला, सुहृत् - प्रत्युपकार न चाहकर उपकार करनेवाला मित्र या अकारण प्रेमी मित्र, प्रभव अर्थात इस जगत् की उत्पत्ति का कारण और जिस में सब लीन हो जाते हैं वह प्रलय भी मैं ही हूँ। तथा जिसमें सब स्थित होते हैं वह स्थान, प्राणियों के कालान्तर में उपभोग करने योग्य कर्मों का भण्डार रूप निधान और अविनाशी बीज भी मैं ही हूँ अर्थात् उत्पत्तिशील वस्तुओं की उत्पत्ति का अविनाशी कारण मैं ही हूँ। जबतक संसार है तब तक उस का बीज भी अवश्य रहता है, इसलिये बीज को

अविनाशी कहा है क्योंकि बिना बीज के कुछ भी उत्पन्न नहीं होता और उत्पत्ति नित्य देखी जाती है, इस से यह जाना जाता है कि बीज की परम्परा का नाश नहीं होता।

सामान्य तौर पर यदि किसी से कुछ उत्पन्न होगा तो वो चीज घट जाएगी। बीज से यदि पौधा उत्पन्न होगा तो बीज नष्ट हो जाएगा। किन्तु परमात्मा अविनाशी बीज है जिस में कुछ भी घटता या बढ़ता नहीं। सर्ग में अपरा- परा प्रकृति का उद्गम एवम विस्तार परमात्मा के संकल्प से इस बीज से उत्पन्न होता है एवम प्रलय काल मे इसी बीज में विलीन हो जाता है। यह बीज जस का तस रहता है।

परमात्मा द्वारा यहाँ यह भी स्पष्ट किया जा रहा है कि जो कुछ भी होता है, वो तात्विक दृष्टि से परमात्मा है एवम सात्विक, राजस एवम तामस समस्त पदार्थ भी परमात्मा से ही उत्पन्न होते है। किंतु वो यह सब करते हुए भी इन से भी परे है।

जीव के सामर्थ्य, कर्म, सम्बन्ध, ज्ञान, वेद से आगे सम्पूर्ण ब्रह्मांड के रचयिता, स्वामी, काल को नियंत्रण के अपने स्वरूप को सशक्त रूप में परमात्मा द्वारा प्रकट करना, अर्जुन या हमे यही बता रहा है कि जीव का प्रकृति के साथ जो कर्तृत्व - भोक्तत्व भाव से उत्पन्न अहम है, वह अत्यंत तुच्छ एवम नगण्य है। जीव प्रकृति, काल, गति, जन्म-मृत्यु एवम कार्य-कारण के कर्म फलों से बंधा प्राणी है।

जीवात्मा परमात्मा का स्वरूप तो है किंतु परमात्मा नही है। परमात्मा अनन्त है, अतः जीव का अहम परमात्मा के पासंग भी नही। अज्ञानी लोग अवरित स्वरूप परमात्मा को सदाहरण जीव समझ कर उस से अपनी तुलना या अपने विचार उस के प्रति अहम भाव से रखते है कि मैं भगवान को ऐसा मानता हूँ या भगवान को यह करना चाहिये या नही करना चाहिए।

पूर्व श्लोक में चार सम्बन्धो के बाद आगे के सम्बन्ध पांचवा गति, छठा भर्ता अर्थात पति के स्वरूप में परब्रह्म और जीवात्मा पत्नी अर्थात पति की अनुगामिनी, सातवां स्वामी-सेवक, आठवां साक्षी -साक्ष्य (ब्रह्म साक्षी और जीव साक्ष्य), नवां आधार और आधेय अर्थात परमात्मा इस संसार का आधार है और संसार आधेय अर्थात परमात्मा की अनुकंपा से है, दसवां परमात्मा शरण रक्षक और जीव शरण्य, जीव की गति बिना प्रभु की शरण गए पूर्ण नही होती, ग्यारहवां मित्र और सखा है। इस के अतिरिक्त ग्याहरवें अध्याय में दो सम्बन्ध गुरु-शिष्य और अंश-अंशी के बताए गए है। इस प्रकार कुल तेरह सम्बन्ध जीव के परमात्मा से होते है।

अध्याय नौ में विभिन्न स्वरूप से हम सांसारिक प्रेम को परासांसारिक भाव में भक्ति को पढ़ रहे है। भक्ति में निर्वृति अर्थात सांसारिक बंधन को त्याग कर परमात्मा से संबंध कैसे बनाए जाए, यही हम जान रहे है। भक्ति को कर्म प्रधान करते हुए, सब कुछ परमात्मा को समर्पित करे या उपासना विधि से भजन, कीर्तन, व्रत उपवास आदि करते हुए करे अथवा ज्ञान प्रधान अर्थात परमात्मा को जानने के लिए वेदों और शास्त्रों का अध्ययन करते हुए करे। इस में ज्ञान युक्त भक्ति मोक्ष का मार्ग है अन्य निवृति का।

परमात्मा के स्वरूप के वर्णन के बाद परमात्मा आगे अपने बारे में क्या कहते है, पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।।9.18।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.19॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥

"tapāmy aham ahaṁ varṣaṁ,
nigṛhṇāmy utsṛjāmi ca..।
amṛtaṁ caiva mṛtyuś ca,
sad asac cāham arjuna"..।।

भावार्थ:

हे अर्जुन! मैं ही सूर्य रूप में तप कर जल को भाप रूप में रोक कर वारिश रूप में उत्पन्न होता हूँ, मैं ही निश्चित रूप से अमर-तत्व हूँ, मैं ही मृत-तत्व हूँ, मै ही सत्य रूप में तत्व हूँ और मैं ही असत्य रूप में पदार्थ हूँ। (१९)

Meaning:

I provide heat, I hold back and send forth the rain. I am immortality and also death, I am real and also unreal, O Arjuna.

Explanation:

A recurring theme of this chapter is that we should see Ishvara everywhere, instead of looking only in things and places that our senses find pleasurable. In that regard, since we deal with the weather every day, it can become a great pointer to access Ishvara. However, anytime the climate becomes too hot, or there is excessive rain or drought, our body feels uncomfortable, and therefore we do not even think of Ishvara when those things happen.

The Puranas describe that when God first created the universe, He manifested the first-born Brahma and entrusted him with the work of further creation. Brahma was bewildered by the task of creating the materials and the life-forms in the universe from the subtle material energy. Then God revealed knowledge unto him, which is called the Chatuḥśhlokī Bhāgavat (the four-versed Bhagavatam), on the basis of which Brahma proceeded to create the world. Its first verse states very emphatically:

Shree Krishna tells Brahma: "I am all that is. Prior to creation, I alone existed. Now that creation has come about, whatever is in the form of the manifested world is my very self. After dissolution, I alone will exist. There is nothing apart from Me."

Shri Krishna says in the shloka that it is Ishvara that is providing the heat as the sun. So when it gets extremely hot, we should recognize that it is Ishvara that is providing the energy for the sun. And even though we may feel uncomfortable, we should realize that Ishvara has the welfare of the entire earth in mind. When it gets hot, the water on earth rises to form clouds, and is eventually sent back as rain. If the sun were never to give enough heat, we would never get any rain on earth.

Shri Krishna also says that Ishvara is found in immortality as well as in death. Symbolically, what is meant here is that knowing Ishvara as an infinite entity is real immortality, and knowing Ishvara as finite is death.

When we see only waves and foam in the ocean, we will eventually see them “die”. But when we only see the ocean, there is no death whatsoever.

How do we develop such a vision? By knowing what is “sat” or real and what is “asat” or not real. Just because something is perceived by our senses, it does not automatically become real. Optical illusions are a great example. This echoes the lessons of the second chapter where Shri Krishna encourages us to develop “tattva drishti” or the vision of the essence, not of names and forms.

With this shloka, Shri Krishna concludes the topic on pointers of Ishvara. A new topic, forms of devotion, is taken up next.

।। हिंदी समीक्षा ।।

कुवे के मेढ़क को समुंदर के बारे में बताये तो वह कुवे का चक्कर लगा कर उस की तुलना समुंदर से करेगा। किन्तु जब हम कल कल बहता झरना, नदी, नाले, पर्वत, धरती पर खिलते फूल, अन्न , दिन-रात, सूर्य - चंद्रमा, आकाश, पशु-पक्षी देखते है तो हमे लगता है कि कौन इन सब को नियंत्रित करता है। स्वतः कुछ भी नही होता, यदि यह किसी नियम या सिंद्धान्त के द्वारा भी काम कर रहे है, तो भी कोई तो इस का रचनाकार एवम नियंत्रण करने वाला होगा।

श्रीकृष्ण ने ब्रह्मा से कहा, "मैं ही सब कुछ हूँ, सृष्टि से पूर्व केवल मैं ही अस्तित्व में था। अब जब सृष्टि प्रकट हो चुकी है, इस प्रकट संसार का स्वरूप जो भी है वह सब मैं हूँ। प्रलय के पश्चात् भी केवल मैं ही रहूँगा। सृष्टि में मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं।" उपर्युक्त सत्य का तात्पर्य यह है कि संसार के जिस पदार्थ के साथ हम भगवान की आराधना करते हैं वह भी भगवान है। जब लोग गंगा की पूजा करते हैं तो वे अपने शरीर के निचले अंग को उसमें डुबाते हैं। फिर वे अपनी हथेलियों से जल उठाकर गंगा में डाल देते हैं। इस प्रकार से वे गंगाजल का प्रयोग उसकी पूजा के लिए करते हैं। उसी प्रकार से जब भगवान सभी अस्तित्त्वों में व्याप्त हैं तब उनकी पूजा करने के लिए प्रयोग किए जाने वाले पदार्थ भी उनसे भिन्न नहीं हो सकते।

ब्रह्मा ने जीवन की रचना के बाद एक चक्र बनाया, जिस से जीवन चक्र चले। वर्षा, अन्न,समुंदर और सूर्य, बादल, वायु सभी एक चक्र का निर्माण करते है। जल ही जीवन है। जल वर्षा से प्राप्त होता है। इस की एक प्रक्रिया है कि सूर्य के ताप से समुंदर, नदी, तालाब का पानी वाष्प हो ऊपर उठ जाता है, फिर कम दवाब के क्षेत्र में यह मेघ बन कर बरस जाता है। जल का यह बरसना एक प्रक्रिया है जिस से अशुद्ध जल शुद्ध भी होता है एवम वर्षा के माध्यम से वितरित हो कर अन्न आदि उत्पन्न होता है और यह जीवन चलता है। परमात्मा का कहना है अग्नि से आहुति सूर्य को प्राप्त होती है और सूर्य से ताप, वाष्पीकरण की प्रक्रिया, एवम पुनः जल के रूप में बरसना एवम अन्न आदि की उत्पत्ति, यह जीवन की समस्त प्रक्रिया मै ही हूँ। परमात्मा हर स्थान, प्रकृति की प्रत्येक क्रिया में, हम जो सही मानते है और जो गलत समझते है, उस सब मे है।

इस प्रकार सूर्य का तपना, जमीन का सुखना, फिर वर्षा द्वारा जमीन के सिंचन यह प्रक्रिया जीवन की सतत प्रक्रिया है। जमीन के सूखने और सिंचित होने अर्थात जन्म से मृत्यु तक और फिर पुनर्जन्म तक की प्रत्येक प्रक्रिया में परमात्मा ही है। परमात्मा ब्रह्मांड के प्रत्येक क्रिया और कण कण में है अतः परमात्मा को जन्म में, मृत्यु में, सुख में, दुख में, सफलता में और असफलता में सभी मे समान रूप से देखना चाहिए। इसलिये भगवान आगे कहते है। ऋतु चक्र, ऊर्जा, वर्षा और वर्षा से जीवन की यह प्रक्रिया मानव के बस में नही है, क्योंकि प्रकृति में जो सुलभ है, वही महत्वपूर्ण होते हुए भी, उपेक्षित है। इस सदाहरण से दिखने वाली असदाहरण प्रक्रिया में परमात्मा ही है, जो निरंतर इस सृष्टि का संचालन कर रहा है।

मैं ही सत एवम असत हूँ। तैत्तरीय उपनिषद के अनुसार सृष्टि के पूर्व असत ब्रह्म थे, नाम रूप विभाग से रहित सूक्ष्म चिदचिद विशिष्ट भगवान कारण स्वरूप थे। वही नामरूप विभागयुक्त सत हुए। क्योंकि उपनिषद के अनुसार जो है नही वो सत नही हो सकता। जो कारण था वही कार्य के रूप में होने से सत कहलाया। किन्तु गीता में सत का प्रयोग परब्रह्म स्वरूप के लिये करती है और असत उन सभी दृश्य सृष्टि को कहती है। इस के भेद के विवाद को भी गीता यह कह कर समाप्त कर देती है कि परमात्मा सत एवम असत दोनों ही है। वही सगुण और निर्गुण है, मैं ही अग्नि, अग्नि से जलने वाला, जल कर जो शेष बचे और अग्नि जलाने और बुझाने वाला मैं ही हूँ। संसार मे जो भी विद्यमान है, वह परमात्मा के अतिरिक्त कुछ नही। जब अहम में कुछ अज्ञानी लोग कहते है कि परमात्मा नही है, तो वह भी मैं ही हूँ। अर्थात जन्म से मृत्यु तक हर स्वरूप, गति, कर्म आदि में तू मुझे ही देख।

परमात्मा कहते है कि जितना कुछ भी प्राणियों के अनुकूल वृति का विषय होता है वह अमृत तथा जो प्रतिकूल वृति का विषय होता है वह मृत्यु- इत्यादि अनुकूल प्रतिकूल वृति के विषय सब पदार्थ में मैं ही होता हूँ। अर्थात जड़-चेतन, सत-रज-तम, सत-असत, सगुण-निर्गुण, कार्य-कारण, अनुकूल-प्रतिकूल वृति या परिस्थिति जो कुछ है, वह सब ब्रह्म स्वरूप ही है।

मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ अर्थात् मात्र जीवों का प्राण धारण करते हुए जीवित रहना और सम्पूर्ण जीवों के पिण्ड प्राणों का वियोग होना (मरना) भी मैं ही हूँ। सत् असत्, नित्य अनित्य, कारण - कार्यरूप से जो कुछ है, वह सब मैं ही हूँ। तात्पर्य है कि जैसे महात्मा की दृष्टिमें सब कुछ वासुदेव ही है - ऐसे ही भगवान् की दृष्टि में सत्असत्, कारण - कार्य सब कुछ भगवान् ही हैं। परन्तु सांसारिक लोगों की दृष्टि में सब एक दूसरे से विरुद्ध दीखते हैं जैसे जीना और मरना अलग अलग दीखता है, उत्पत्ति और विनाश अलग अलग दीखता है स्थूल और सूक्ष्म अलग अलग दीखते हैं, सत्त्व-रज-तम ये तीनों अलग अलग दीखते हैं,कारण और कार्य अलग अलग दीखते हैं, मिट्टी एवम घट या फिर जल और बर्फ अलग अलग दीखते हैं। परन्तु वास्तव में संसाररूप में भगवान् ही प्रकट होनेसे, भगवान् ही बने हुए होने से सब कुछ भगवत्स्वरूप ही है। भगवान् के सिवाय उस की स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। ब्रह्म असीमित से भी परे है क्योंकि असीमित में भी सीमा हो सकती है किंतु ब्रह्म की नही।

श्लोक 16 से 19 में परब्रह्म द्वारा अपने एकल स्वरूप का वर्णन किया, जिस में अन्य कोई भी तुलनात्मक नही होने से मैं शब्द का उपयोग ही अत्यधिक हुआ। जीव परब्रह्म का ही अंश है, यह जब मैं - मैं करता है तो यह जीव अज्ञान में प्रकृति से बंधा अहंकार या महंत में करता है। यही महंत का त्याग हो जाने से जीव पुनः परब्रह्म में विलीन हो जाता है। अपने को परब्रह्म के समान समझने वाला यह अज्ञानी जीव को यदि ज्ञान हो जाए तो वह समझ जाएगा जिस से यह सृष्टि रची है, जो कालातीत है, जिस का पर्याय, जन्म मृत्यु, सत - असत कुछ भी नही है, जिस का अन्य भी नही है, वही मैं है।

यद्यपि सर्वत्र परब्रह्म ही है तो भी सकाम हो कर भगवान के एकत्व और अनेकत्व स्वरूप की अर्चना करने वालो के लिये भगवान क्या कहते है, पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 9.19।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.20॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापायज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥

"trai-vidyā māṁ soma-pāḥ pūta-pāpā,
yajñair iṣṭvā svar-gatiṁ prārthayante..।
te puṇyam āsādya surendra-lokam,
aśnanti divyān divi deva-bhogān"..।।

भावार्थ:

जो मनुष्य तीनों वेदों के अनुसार यज्ञों के द्वारा मेरी पूजा करके सभी पापों से पवित्र होकर सोम रस को पीने वालों के स्वर्ग-लोकों की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते हैं, वह मनुष्य अपने पुण्यों के फल स्वरूप इन्द्र-लोक में जन्म को प्राप्त होकर स्वर्ग में दैवी-देवताओं वाले सुखों को भोगते हैं। (२०)

Meaning:

Those well-versed in the three Vedas, after worshipping me through sacrifices, and drinking nectar and purified of sin, they pray for attainment of heaven. Having obtained merits, they enjoy the divine pleasures of the gods in heaven.

Explanation:

Having described the infinite nature of Ishvara, Shri Krishna now elaborates upon the topic of devotees or bhaktas. Previously, in verse 9.12, Shree Krishna described the mentality of the non-believers and the demoniac, who embrace atheistic and ungodly views, and the repercussions that such people face. Then, He described the nature of great souls, who are engaged in loving devotion to Him. Now, in this verse and the next, He mentions those who are not devotees, but are not atheistic either. There are predominantly two types of devotees: desire-oriented (sakaama) and desireless (nishkaam). Desire- oriented devotees are described in these two

shlokas. They perform the ritualistic ceremonies of the Vedas. This science of karm kāṇḍ (Vedic rituals) is referred to as trai- vidyā. Note the change to a longer meter to emphasize a change in the topic.

Who is the desire- oriented bhakta? He is a devotee who worships Ishvara for a material gain. He either wants merits (punya), wealth (artha), earthly joy (sukha), heavenly joy (svaraga) or a combination of these four. In simple words he is looking for money, name and fame.

Ritualistic ceremonies are considered good deeds, but they are not counted as devotion. The performers of ritualistic ceremonies do not get released from the cycle of life and death. They go to the higher planes of existence within the material universe, such as abode of Indra, the king of heaven.

So, for example, if someone wants to buy a car, they pray that it is the right price and that it is in stock. If someone has an exam, they pray that they pass in the exam. Vedas and rituals mentioned in this shloka refer to the efforts that we put into appeasing Ishvara. We may not perform elaborate rituals, but there always is a thought that "please God let this happen so that I can be happy", which amounts to the same thing as the rituals mentioned here.

Now, when a child asks his parents for something insignificant, a parent feels frustrated because the parent has the capability to give much greater value but cannot do so because the child insists on that insignificant thing. Similarly, Ishvara also may feel sometimes that the things we ask of him - wealth, heavenly pleasures and so on - are insignificant. Such people do not have a strong resolve towards liberation, they do not have the “vyavasaatmikaa buddhi” mentioned in chapter 2. Their focus is diverted away from Ishvara towards material pursuits.

Assuming they somehow accumulate merits and attain heaven, what happens next?

।। हिंदी समीक्षा ।।

ऋक, यजुः एवम साम यह तीन वेद जिस में उपासना की एक ही प्रकार ही विधि है। इस को जानने वाले को त्रेविद्य कहा जाता है। वेद के कर्मकांड को जानना एवम वेदांत के सिंद्धान्तों को जानना, दोनों में अंतर है। सकामी पुरुष वेद के शिरो भाग वेदान्त को न जान कर वेद के कर्म भाग स्वर्गकामो यजेत को अधिक महत्व देते है। अतः इन वेदों के जानने वाले यह त्रेविद्य पुरुष परमात्मा की पूजा तो करता है किंतु बदले में स्वर्ग के सुख की कामना करता है, भगवान श्री कृष्ण ने पहले ही कहा था कि जो मुझे जिस भाव एवम रूप से पूजते है मैं उन्हें वही फल प्रदान करता हूँ। अतः यह ज्ञानी लोग मोक्ष को प्राप्त न करते हुए स्वर्ग को प्राप्त करते है एवम अपने पुण्य कर्मो का सुख भोगते है।

अतः परमात्मा को पूजने वाले तीन तरह ही भक्त कहे गए है, जिस में प्रथम वे भक्त है जो सांसारिक सुखों के लिए और अपने सांसारिक दुखो के निवारण के लिए परमात्मा को पूजते है। द्वितीय वे भक्त है जो मृत्यु के बाद के सुख अर्थात पुण्य लोकों स्वर्ग आदि जाने के भक्ति करते है। यह दोनो ही भक्त सकाम भक्त कहलाते है। फिर अन्य भक्त जो मोक्ष के लिए मुमुक्षु की भांति चित्तशुद्धि और ज्ञान के लिए भक्ति करते है।

सोमलता अथवा सोमवल्ली नामकी एक लता होती है। उसके विषय में शास्त्र में आता है कि जैसे शुक्लपक्ष में प्रतिदिन चन्द्रमा की एकएक कला बढ़ते बढ़ते पूर्णिमा को कलाएँ पूर्ण हो जाती हैं और कृष्णपक्ष में प्रतिदिन एक एक कला क्षीण होते होते अमावस्या को कलाएँ सर्वथा क्षीण हो जाती हैं, ऐसे ही उस सोमलता का भी शुक्लपक्ष में प्रतिदिन एक एक पत्ता निकलते निकलते पूर्णिमा तक पंद्रह पत्ते निकल आते हैं और कृष्णपक्ष में प्रतिदिन एक एक पत्ता गिरते गिरते अमावस्या तक पूरे पत्ते गिर जाते हैं। उस सोमलता के रस को सोमरस कहते हैं। यज्ञ करने वाले उस सोमरस को वैदिक मन्त्रों के द्वारा अभिमन्त्रित करके पीते हैं, इसलिये उनको सोमपाः कहा गया है। वेदों में वर्णित यज्ञोंका अनुष्ठान करने वाले और वेदमन्त्रों से अभिमन्त्रित सोमरस को पीने वाले मनुष्यों के स्वर्ग के प्रतिबन्धक पाप नष्ट हो जाते हैं। इसलिये उनको पूतपापाः कहा गया है। आज जो लोग सोमरस से अर्थ शराब का लेते है उनको यह जानकारी होनी चाहिये कि ऋषि मुनि जिस सोमरस का पान करते थे वो वैदिक प्रक्रिया से बनाया हुआ विशिष्ट पौधे का रस होता था।

वैदिक और पौराणिक विधि विधान से किये गये सकाम यज्ञों के द्वारा इन्द्र का पूजन करने और प्रार्थना करने के फलस्वरूप वे लोग स्वर्ग में जाकर देवताओं के दिव्य भोगोंको भोगते हैं।

वे दिव्य भोग मनुष्यलोक के भोगों की अपेक्षा बहुत विलक्षण हैं। वहाँ वे दिव्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध - इन पाँचों विषयों का भोग (अनुभव) करते हैं। इन के सिवाय दिव्य नन्दनवन आदि में घूमना, सुखआराम लेना, आदरसत्कार पाना, महिमा पाना आदि भोगोंको भी भोगते हैं।

धार्मिक कर्मकाण्डों को शुभ कार्य माना जा सकता है लेकिन इनकी गणना भक्ति के रूप में नहीं की जाती। धार्मिक कर्मकाण्डों का अनुपालन करते हुए वे जन्म मृत्यु के चक्र से मुक्त नहीं हो पाते। वे भौतिक ब्रह्माण्ड के उच्च लोकों जैसे कि स्वर्ग के राजा इन्द्र के इन्द्र लोक में जाते हैं।

आज के युग मे यह एक कटाक्ष माने तो उच्च शिक्षा प्राप्त लोग जो ऐसो आराम की जिंदगी जीने के देश विदेश में नौकरी करने वालो जैसे है। यह लोग अपना उद्यम न खड़ा कर के अपनी विद्या को दूसरों के उपयोग के लिये करते है, इस से उन्हें धन एवम ऐसो आराम की ज़िंदगी मिलती है किंतु उस का समय उन की कार्य क्षमता तक ही है। यह ज्ञान का सीमित उपयोग ही है। किंतु कुछ ज्ञानी पुरुष अपने कार्य के साथ निष्काम भाव अन्वेषण, खोज एवम सामाजिक कार्य जनहित की भावना से करते हुए अपने अर्थ का सही उपयोग करते है वो ही वेदांत को जानने वाले है, शेष सिर्फ कर्म कांड वाले लोग होते है। जिन्हें त्रेविद्य अर्थात बुद्धि जीवी तो कह सकते है किंतु अर्थ कामना एवम स्वर्ग के सुख की आशा के कारण इन के सभी कर्म बिके हुए ही है। इन मे हम उन कथा वाचक को भी शामिल कर सकते है जिन का ज्ञान अत्यंत उच्च कोटि का है किंतु उद्देश्य धन कमाना है, इन का सम्मान होना चाहिये किन्तु इन्हें संतो या भगवान जैसे पूजन करना अज्ञानता ही है।

भगवान का यह कथन कुछ नया तो नही है किंतु इस समय परमात्मा हमे सचेत कर रहे कि ज्ञानी होने से ही मोक्ष नहीं मिलता, अपितु ज्ञान का उपयोग जिस कामना के साथ करते है वो ही प्राप्त होता है। मोक्ष के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त करो वो अनित्य ही है, क्योंकि मोक्ष ही अविनाशी एवम नित्य है।

ज्ञान का वास्तविक अर्थ आत्मोन्नति है। परंतु भौतिक जगत में उन्नति का अर्थ ऐश्वर्य एवम विलास के सुखों से लिया जाता है। सत्ता, सुरा और सुंदरी यह विलासिता की पहचान है। अतः ज्ञान का उद्देश्य कर्म कर के अर्थ उपार्जन करना और उस अर्थ से ऐश्वर्य पूर्ण जीवन जीना, अनन्तः अपने आप को कर्म बन्धन में बांधना ही है। वह मोक्ष या मुक्ति का मार्ग नही है। ज्ञान के उच्चतम ग्रन्थ के जानकारों के माध्यम से भगवान सचेत कर रहे है कि परमज्ञानी

पुरुष भी यदि सकामी हो तो ज्ञान द्वारा सारी आराधना स्वर्ग के सुख की अभिलाषा में लगा कर, जीवन को व्यर्थ कर देता है, जब कि उसको मोक्ष की प्राप्ति के ज्ञान का प्रयोग करना चाहिये।

व्यवहार में ज्ञान प्राप्त होने के बाद सारा जीवन व्यापार और अर्थ उपार्जन में लगा दे और अपने लिये सुख सुविधाएं इकठ्ठी कर ले तो इतने ज्ञानी होने का कोई अर्थ नही, जब तक आप निष्काम भाव से लोकसंग्रह हेतु कर्म नही करते। भागवद करना, बड़े बड़े यज्ञ करना, मंदिर बनवाना आदि नाम, अर्थ और सत्ता के लिये है तो यह सकाम कृत्य मोक्ष का मार्ग नही है। वेद के रचयिता कभी नही जाने गए। गीता की रचना व्यास जी ने की, किन्तु उसी का अनुवाद करने वाले गीता के अनुवाद का कॉपी राइट करवाते है। मंदिरों में चंदा, व्यापार करते है। रोग निदान या कार्य के संपादन हेतु यज्ञ करते है, घर मे रोज दो घण्टे ध्यान और पूजा कर के, दुकान में सारी तिकड़म लगाते है, इन की आराधना, ज्ञान, कर्म सांसारिक ही है, इसे गीता में वर्णित मोक्ष का ज्ञान नही कहा जा सकता।

प्रायः समाजिक ग्रुप में भी लोग पढ़ते कम और ज्ञान अधिक बाटते है। क्योंकि वह ज्ञान प्राप्त कर के आत्मसंतुष्ट होना चाहते है, उन का सकाम ज्ञान आत्म उत्थान से अधिक समाजिक उत्थान का होता है। कुछ लोग ध्यान, भजन, योग एवम धार्मिक अनुष्ठान को व्यापार का साधन बना कर प्रयोग करते है। उन की आराधना के अनुरूप उन्हें फल तो मिलता है किन्तु वह मोक्ष का मार्ग नही है।

परमात्मा द्वारा यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि सकाम हो कर भी जो जिस भी देवी देवता की पूजा करता है, वह उन्ही की पूजा करता है। वह ही उस देवी देवता से उस के सामर्थ्य के अनुसार उस को फल भी प्रदान करते है। अतः सात्विक विचार रखने, सकाम हो कर यज्ञ याग कर्म करने से कामना की पूर्ति हो जाती है किंतु इसके पुण्य समाप्त हो जाने के बाद, पुनः मृत्यु लोक में जन्म लेना पड़ता है। मोक्ष का मार्ग सकाम हो कर पूजा करने से नही मिलता।

अतः यह स्पष्ट है कि मनुष्य की कामना, आसक्ति के अनुसार किए हुए कर्म ही संचित हो कर प्रारब्ध बन कर मनुष्य को फल देते है। ईश्वर किसी को कुछ न तो देता है और न ही उस से कुछ लेता है। वह सभी से समान व्यवहार करता है और दुख सुख जीव अपने कर्म और उस के साथ जुड़ी उस की कामना और आसक्ति के अनुसार भोगता है।

जिन को पुण्य कर्मों के कारण स्वर्ग प्राप्त होता है उन का आगे क्या होता है, यह हम आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 9.20।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.21॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालंक्षीणे पुण्य मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥

"te taṁ bhuktvā svarga- lokaṁ viśālaṁkṣīṇe,
puṇye martya- lokaṁ viśanti..।
evaṁ trayī-dharmam anuprapannā,
gatāgataṁ kāma- kāmā labhante"..।।

भावार्थ:

वह जीवात्मा उस विशाल स्वर्ग-लोक के सुखों का भोग कर के पुण्य-फ़लो के समाप्त होने पर इस मृत्यु-लोक में पुन: जन्म को प्राप्त होते हैं, इस प्रकार तीनों वेदों के सिद्धान्तों का पालन करके सांसारिक सुख की कामना वाले (सकाम-कर्मी) मनुष्य बार-बार जन्म और मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं। (२१)

Meaning:

Having enjoyed the (joys of) mighty heaven, they, with their merits exhausted, return to the mortal world. In this manner, those with selfish desires, who take refuge in the three- fold system, arrive and depart (repeatedly).

Explanation:

Shri Krishna continues the description of desire- oriented devotees (sakaam bhaktas) who worship Ishvara with a view to gain earthly and heavenly rewards and conforts. Shri Krishna says that their efforts will bear fruit on earth as well as in heaven. However, he says that their stay in heaven is

temporary. After their stay ends, they once again come back to earth and get caught up in the endless cycle of birth and death.

Just as a football gets kicked all over the field, Maya is kicking the soul around in forgetfulness of God. Sometimes it goes to the lower abodes, while sometimes to the higher abodes. Amongst these multitudes of forms it receives, across the lower and higher abodes, only the human form offers the facility for God- realization. Hence, the scriptures state that even the celestial gods pray to be given birth as a human being, so that they may rectify their previous mistake of going to heaven and strive toward God-realization.

As an example, consider the plight of those people who work hard, earn a good living but have trouble managing their spending. As soon as they get their salary, they instantly spend most of it on the first of the month, and barely manage to pay their bills for the remainder of the month. They somehow forget that fact that money, like anything else in this world, is finite.

One has to come to bhūlōka at regular intervals. Why, because all earnings you can do here only; in the other 13 lōkahs, whether it is 6 upper lokas, or 7 lower lōkas, all the 13 lokas are only for exhaustion of your earnings; in the lower lokas you exhaust your pāpam; in higher lōkas, you exhaust your puṇyam; and again if the bank balance has to be built up, you have to come to bhūlōka. Therefore gaman- āgamanam. This is called autobiography of a samsāri.

Shri Krishna says that such people follow the “three-fold system”. This refers to Vedic knowledge comprising the three modes or gunaas. Since the gunaas themselves are finite and transient, the results attained by the followers of these gunaas will also be finite and transient.

So therefore, although the desire-oriented devotee is better than someone who has no room for devotion, he is still trapped in a pursuit of comfort in pleasure in this world as well as in other worlds. Unlike such a devotee, what we should truly desire is liberation or moksha.

What kind of devotee gets liberation? This is taken up next.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व में सकामी भक्त अर्थार्थी के विषय मे पढ़ा था। जब ज्ञानी पुरुष कामना -आसक्ति से पूर्ण हो तो कार्य-कारण के सिंद्धान्त से उसे उस के सात्विक कर्मो के फल स्वरूप स्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है। मृत्यु लोक के अतिरिक्त अन्य कोई कर्म भूमि नही है, अतः अन्य लोक में जीव अपने पुण्य कर्मों के कारण सुख- ऐश्वर्य को भोगता है और जब उस के पुण्य कर्म खत्म हो जाते है, वह पुनः मृत्यु लोक में आ जाता है।

श्रीकृष्ण इस श्लोक में यह स्पष्ट करते हैं कि स्वर्ग लोक के दैवीय सुख अस्थायी हैं। जिन लोगों को उन्नत करके स्वर्ग भेजा जाता है जहाँ वे स्वर्ग के सुखों और ऐश्वर्य का भरपूर भोग करते हैं। बाद में जब उनके पुण्य कर्म समाप्त हो जाते हैं तब उन्हें पृथ्वी लोक पर वापस भेज दिया जाता है। स्वर्गलोक को प्राप्त करने से आत्मा की चिरकालिक खोज पूरी नहीं होती। हम भी अपने अनन्त पूर्व जन्मों में वहाँ पर कई बार जा चुके हैं तथापि आत्मा की अनन्त सुख पाने की भूख अभी तक शांत नहीं हुई है। सभी वैदिक ग्रंथों में इसका समर्थन किया गया है।

"स्वर्ग के निवासी तब तक स्वर्ग के सुखों का भोग करते हैं जब तक उनके पुण्य कर्म समाप्त नहीं हो जाते। कुछ अंतराल के बाद उन्हें अनिच्छा से बलपूर्वक निम्न लोकों में भेज दिया जाता है।"

"स्वर्ग की प्राप्ति अस्थायी है और वहाँ भी दुख पीछा नहीं छोड़ते।"

जब परमात्मा की पूजा यानि प्रार्थना, समत्व एवम यजन की तीनों विधियों द्वारा कामना सहित की जाती है तो कामना स्वरूप स्वर्ग की प्राप्ति होना निश्चित है, किन्तु जो अनित्य है तो उस क्षीण भी होना ही है। यानि जन्म- मरण से मुक्ति के बिना यह चक्र समाप्त नहीं हो सकता। यह बात पहले भी बताई गई थी, किन्तु यहां दुबारा इस बात को बताने का कारण है जो नित्य है वो ही अटल है, उस को ज्ञानी सोमरस का पान करने वाले, त्रेवेद्य व्यक्ति भी

कामना के साथ करे तो भी सत्य नही बदलता। प्रायः कुछ संत महात्मा अपने हिसाब से कामना के वशीभूत हो कर परमात्मा के नित्य स्वरूप की बजाय लौकिक एवम पारलौकिक सुखों के लिये ज्ञान देते है। यह मुख्यतया इन लोगो को ध्यान में रख कर दोहराया गया है। बिना निष्काम हुए चाहे हम कुछ भी महान से महान कार्य करे, उस के कारण हमें उच्च पद प्राप्त भी हो जाये तो भी पुण्य की समाप्ति के बाद हमे वापस अपने पूर्व स्थान पर ही आना पड़ता है। इस लिये परमात्मा जो नित्य है उस के लिये निष्काम होना किसी भी तत्वविद के लिये भी अनिवार्य है।

इस को हम ऐसे भी समझ सकते है कि एक खूबसूरत, उच्च कोटि के वाहन के मालिक होने के साथ आप को उस को चलाने का पूरा अनुभव भी है। आप पूरी क्षमता एवम लग्न के साथ उसे चलाते भी है तो भी यदि मार्ग सही नही पकड़ा तो गंतव्य स्थान पर न पहुँच के आप गाड़ी की यात्रा का आनन्द ले कर वापस आ जाएंगे।

अगर पूर्वश्लोक में आये पूतपापाः पद से जिन के सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गये हैं और यहाँ आये क्षीणे पुण्ये पदों से जिनके सम्पूर्ण पुण्य क्षीण हो गये हैं - ऐसा अर्थ लिया जाय, तो उन को (पापपुण्य दोनों क्षीण होने से) मुक्त हो जाना चाहिये परन्तु वे मुक्त नहीं होते, प्रत्युत आवागमन को प्राप्त होते हैं। ऐसे अविवेकी कामी लोगों के प्रति भगवान् की अरुचि उनके इन शब्दों में स्पष्ट होती है कि वेदोक्त कर्म का अनुष्ठान कर, भोगों की कामना करने वाले, बारम्बार (स्वर्ग को) जाते और (संसार को) आते हैं।

नासमझ, अज्ञानी या तामसी वृति के लोग तो जन्म-मरण के दुख से मुक्त नही हो पाते, किन्तु सात्विक, ज्ञानी, वेदों के ज्ञाता, सोमरस का पान करने वाले श्रेष्ठ जन भी यदि कामना-आसक्ति से सुख- आनन्द के लिये यज्ञ आदि करे तो भी मुक्ति को प्राप्त न हो कर अल्पकालीन सुखों को ही प्राप्त होते है। ज्ञान का होना ही पर्याप्त नही है, उस के साथ मुक्ति के ज्ञान का सदुपयोग होना भी आवश्यक है। परमात्मा का यह कथन उन रूढ़िवादी परम्परा को चेतावनी है जिन में मुक्ति का मार्ग स्वर्ग, वैकुण्ठ या ब्रह्म लोक कहा गया है। गीता में सत सिर्फ ब्रह्म ही है और मुक्ति उस ब्रह्म में विलीन होना है। किसी भी धर्म, सम्प्रदाय या मत में मुक्ति को इतना स्पष्ट कहने का साहस नही है, जो गीता द्वारा वेदान्त के सिंद्धान्तों और वेदों- उपनिषदों के ज्ञान के वास्तविक अर्थ द्वारा बताया गया है।

सन्त ज्ञानेश्वर जी कहते है समस्त सांसारिक या किसी भी लोक के सुख गणिका अर्थात वेश्या की भांति होते है, जब तक आप के पास धन या पुण्य है, आप उपभोग करते है, फिर

जब धन या पुण्य फल खत्म हो जाते है, यह आप को त्याग कर उस के हो जाते है जिन के पास धन या पुण्य फल है। सांसारिक या ब्रह्मलोक तक की कोई भी वस्तु किसी की जीव की स्थायी या नित्य नही है, यहाँ तक उस का शरीर भी नित्य नही है।

आश्चर्य यही है कि किसी भी धर्म मे अपने धार्मिक ग्रंथों के जानकार, उस को पालन करने वालो को सांसारिक ज्ञान ही प्रदान करते है, उन का अपना जीवन भी प्रायः तीन वेदों के जानकार त्रिवेद्य ज्ञानी सोमरस का पान करने वाले एवम स्वर्ग की प्राप्ति के लिये यज्ञ करने वालो जैसा ही होता है। लाखो- करोड़ो में कोई एक ब्रह्मसन्ध होता है।

जो पुरुष निष्काम और तत्त्वदर्शी हैं, उन के विषय में भगवान् जो कहते हैं, उसे हम आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।।9.21।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.22॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

"ananyāś cintayanto māṁ,
ye janāḥ paryupāsate..।
teṣāṁ nityābhiyuktānāṁ,
yoga- kṣemaṁ vahāmy aham"..।।

भावार्थ:

जो मनुष्य एक मात्र मुझे लक्ष्य मान कर अनन्य-भाव से मेरा ही स्मरण करते हुए कर्तव्य-कर्म द्वारा पूजा करते हैं, जो सदैव निरन्तर मेरी भक्ति में लीन रहता है उस मनुष्य की सभी आवश्यकताऐं और सुरक्षा की जिम्मेदारी मैं स्वयं निभाता हूँ। (२२)

Meaning:

With single-pointed meditation, those who are constantly engaged in my worship, I carry the burden of acquisition and preservation of their needs.

Explanation:

Many commentators compare this shloka to a shining gem located right in the middle of the Gita. This oft- quoted shloka contains Ishvara's promise to all devotees. Here, Shri Krishna assures us that Ishvara will personally attend to the needs of his devotees. But he also defines the type of devotee that is being discussed here. It is one who is ever absorbed in the contemplation of Ishvara. For such people, there is no fear, suffering, sorrow or lack of anything.

Previously, we learned about the "sakaama bhakta" or desire-oriented devotee. This shloka describes the "nishkaama bhakta" or desireless devotee. Who is a nishkaama bhakta? It is the one who is only seeking one thing: moksha, liberation. His desire for moksha is equal to no other desire, for that desire will permanently eliminate all other desires. it is a desire for infinitude or poornatva. He has "ananya" or focused goal, other devotees have "anya" or diverse goals.

So, if we are desireless devotees, if our only desire is liberation which is the attainment of Ishvara, what does Ishvara do for us? God offers motherly assurance to souls who surrender exclusively to Him. The words used are vahāmi aham, meaning "I personally carry the burden of maintaining My devotees, Shri Krishna says that Ishvara takes care of "yoga" and "kshema". Our entire life comprises two major activities: acquisition and preservation. The early part of our life goes in acquisition of knowledge, wealth, family, position and title. This is denoted by the word "yoga". The later part of our life is devoted to preservation of what we have acquired. This is "kshema".

Many commentators cite a wonderful story to illustrate this shloka. There was a brahmin who had great faith in this shloka but lost it one day because his family did not get enough alms to have a proper meal one day. In disgust, he tore the palm leaf on which this shloka was written and went

out of the house. Later, a boy came to his house with a sack of rations. He informed the brahmin's wife that her husband had sent her the food.

The brahmin's wife noticed that the boy's tongue was bleeding. She found out from the boy that it was her husband who had cut off the boy's tongue. When the brahmin came back, the wife rebuked him for injuring the boy who had delivered the rations. The brahmin, it turns out, knew nothing about the boy or the rations. He quickly realized that it was Ishvara who delivered the food, and that when he tore the palm leaf, it injured Ishvara in the form of that boy. So, Ishvara did not just deliver the food, he also carried the rations on his back. This is what is meant by the word "vahaami" which means "to carry".

What is the practical implication of this shloka? If we wholly devote ourselves to the pursuit of Ishvara, we need not spend any time incessantly worrying about our needs. As long as we perform our duties efficiently and in a spirit of service to Ishvara, we will be well taken care of. Ishvara will not just carry our burden of needs; he will also carry all of our worries as well.

The culmination of this shloka's vision is the knowledge that there is no such thing as "my" need or "your" need. If everything is Ishvara and everything is in Ishvara, then he will take care of his own needs, just like our fingers are not worrying about someone taking care of their individual needs.

What happens to those who do not worship Ishvara in his infinite nature? This is explained in the upcoming shlokas.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व में ज्ञानी भक्त, निष्काम भक्त और सकाम भक्त आदि के विषय में हमे भगवान ने बताया, किंतु अब ऐसे भक्तो की बात कर रहे है जिन के लिए भगवान के अतिरिक्त कोई

आश्रय नही है, इन्हे अनन्य भक्त कहते है। जो भक्त संसार के समस्त भोगों से हट कर केवल मात्र मेरे प्रेम में मग्न रहता है, जिस का उपास्य देव परमात्मा के अतिरिक्त कोई नही एवम जो परमात्मा को ही परम आश्रय, परम गति और प्रेमास्पद मानते है ऐसे अनन्या भक्त जब अनन्या भक्ति से प्रेम पूर्वक जीव मुझे स्मरण करने लग जाता है तो उस की रक्षा, उस का मान सम्मान एवम उस की देख भाल की जिम्मेदारी भी मेरी होती है। यह जिम्मेदारी एक मां की अपने शिशु के प्रति ममत्व, वात्सल्य और दायित्व के भाव के समान है।

परमात्मा का जीव से सम्बन्ध आत्मा एवम परमात्मा अर्थात उस के अंश का है। यह जीव परमात्मा से अलग हो कर जब अपना सम्बन्ध परमात्मा की अपरा एवम परा प्रकृति से जोड़ लेता है तो वो उस से अलग हो जाता है। किंतु अनन्या भाव से प्रेम पूर्वक परमात्मा का स्मरण करने वाला जीव जब निष्काम भाव से परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ता है तो परमात्मा स्वयम उस जीव के योगक्षेम की जिम्मेदारी का भार उठाते है।

योग क्षेम का अर्थ है कि जीव को जो प्राप्त न हो उसे प्राप्त करवाना एवम जो उस को प्राप्त है उस की रक्षा करना। शाश्वत उपनिषद में भी योगक्षेम की सम्पूर्ण व्याख्या का अर्थ "संसार नित्य निर्वाह" है।

हम ने भगवान के अनन्या भक्तों के अनेक किस्से सुने होंगे, नानी माई का मायरा- भक्त नरसिंहदास की कथा, भक्त प्रहलाद की कथा, गजेंद्र मोक्ष, सूरदास आदि अनेक अनन्या भक्त जिन के योगक्षेम के लिये स्वयं भगवान को दौड़ कर आना पड़ा। गोकुल, वृंदावन आज भी कृष्ण प्रेम का साक्षात स्वरूप है, जहां की गली गली के कृष्ण प्रेम आज भी गूंजता है। कभी अनजान स्थान पर या यात्रा के दौरान या संकट के समय किसी अनजान व्यक्ति जब आप की सहायता के लिये आता है तो उस मे कभी परमात्मा की उपस्थिति आप ने महसूस की है, यदि तब भी नही, तो अवश्य ही आप की कामना आप को परमात्मा से अलग कर रही है।

एक माँ की गोद मे शिशु जितना सुरक्षित एवम पोषित हो सकता है उतना ही परमात्मा को अनन्या स्मरण करने वाला निष्काम भाव का जीव हो सकता है। यही योगक्षेम है।

अनन्या भक्त भगवान् के सिवाय उनका कोई अन्य भाव है ही नहीं क्योंकि भगवान् के सिवाय अन्य सब नाशवान् है। अतः उनके मन में भगवान् के सिवाय अन्य कोई इच्छा नहीं है अपने जीवन निर्वाह की भी इच्छा नहीं है। इसलिये वे अनन्य हैं। वे खानापीना,

चलनाफिरना, बातचीत करना, व्यवहार करना आदि जो कुछ भी काम करते हैं। वह सब भगवान् की ही उपासना है क्योंकि वे सब काम भगवान् की प्रसन्नताके लिये ही करते हैं। यह कामना रहित निष्काम भक्त है। इसलिये इन का योगक्षेम परमात्मा वहन करता है। भक्त का मनचाहा हो जाय तो उस में भी कल्याण है और मनचाहा न हो तो उस में भी कल्याण है। भक्त का चाहा और न चाहा कोई मूल्य नहीं रखता, मूल्य तो भगवान् के विधान का है। इसलिये अगर कोई अनुकूलता में प्रसन्न और प्रतिकूलता में खिन्न होता है, तो वह भगवान् का दास नहीं है, प्रत्युत अपने मन का दास है। अनन्यदर्शी भक्त अपने लिये योगक्षेम सम्बन्धी चेष्टा नहीं करते। क्योंकि वे जीने और मरने में भी अपनी वासना नहीं रखते, केवल भगवान् ही उनके अवलम्बन रह जाते हैं। अतः उनका योगक्षेम स्वयं भगवान् ही चलाते हैं।

LIC के लोगो मे लिखा है "योगक्षेम वहाम्यहम" और उन का स्लोगन है, "जीवन के साथ भी और जीवन के बाद भी"। भगवान भी उनको समर्पित भक्त को बीमा की सुविधा LIC के पहले से ही दे रहे है। समर्पण किस प्रकार का इस की चर्चा बाद में होगी किन्तु जो श्रद्धा, विश्वास और प्रेम से पूर्ण रूप से अपनी कामना, आसक्ति और अहम को त्याग कर परमात्मा की शरण मे चले जाता है उस का योगक्षेम परमात्मा वहन करता है।

यह श्लोक उस रहस्य को अनावृत करता है, जिसे जानकर आध्यात्मिक और भौतिक क्षेत्र में भी निश्चित रूप से महान सफलता प्राप्त की जा सकती है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात है कि यह श्लोक लगभग गीता का मध्यबिन्दु एवम अत्यंत महत्वपूर्ण है। हम क्रमश आध्यात्मिक और भौतिक दृष्टि से इसके अर्थ पर विचार करेंगे। जो लोग यह जानकर कि एकमात्र आत्मा ही सम्पूर्ण विश्व का अधिष्ठान और पारमार्थिक सत्य है, अनन्यभाव से मेरा अर्थात् आत्मस्वरूप का ध्यान करते हैं, श्रीकृष्ण वचन देते हैं कि उन नित्ययुक्त भक्तजनों का योगक्षेम मैं वहन करता हूँ। योग का अर्थ है अधिक से अधिक आध्यात्मिक शक्ति, और क्षेम का अर्थ है अध्यात्म का चरम लक्ष्य परमानन्द की प्राप्ति, जो यज्ञ का फल है। इन योग और क्षेम को भगवान् ही पूर्ण करते हैं। अब, यदि इसे, व्यावहारिक जगत् के विभिन्न कार्य क्षेत्रों में दिन रात परिश्रम करने वाले लोगों के लिए सफलता का भेद बताने वाला मानें, तब भी यही श्लोक उस रहस्य को बताता हैं जिस के द्वारा संसारी लोग अपने जीवन में पूर्ण सफलता प्राप्त कर सकते हैं। हाथ में लिए हुए किसी भी कार्य में, यदि मनुष्य एक ही लक्ष्य को ध्यान में रखकर अपनी संकल्प शक्ति का उपयोग कर एक ही संकल्प को बनाये रख सकता है, तो उसकी सफलता निश्चित समझनी चाहिए।

सफलता के रहस्य की तीन कुञ्जियाँ बताई गयीं है, जिनके अभाव में कोई भी कार्य यशस्वी नहीं हो सकता, और वे हैं (क) संकल्प का सातत्य, और (ख) एक निश्चित लक्ष्य के लिए अपना सर्वस्व अर्पण करना। तीसरी मुख्य कुञ्जी है (ग) नित्ययुक्तता अर्थात् आत्मसंयम। जीवन में दर्शनीय व गौरवमय सफलता पाने के लिए आत्मसंयम आवश्यक है। जब जीवन में किसी महत्त्वाकांक्षा को लेकर मनुष्य अपने मार्ग पर अग्रसर होता है, तब उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उसके लक्ष्य से भिन्न, अनेक आकर्षक और प्रलोभित करने वाली योजनाएं उसके समक्ष प्रस्तुत की जाती हैं, जिन के चिन्तन में वह अपनी शक्ति का अपव्यय कर के थक जाता है और इस प्रकार अपने चुने हुए कार्य को भी सफलतापूर्वक करने में असमर्थ हो जाता है। उन्नति में बाधक ऐसे विघ्न से सुरक्षित रहने के लिए आत्मसंयम अत्यावश्यक है।

इच्छित क्षेत्र में उसके प्रवाह के लिए हमें केवल उसकी दिशा ही सही करनी होती है। तत्पश्चात् प्रकृतिक नियम के अनुसार वह जल स्वत ही उच्च से निम्न धरातल की ओर प्रवाहित होगा। इसी प्रकार, जो कोई पुरुष अपने कार्यक्षेत्र में यहाँ वर्णित शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक स्तर पर पालन करने योग्य नियमो के अनुसार कार्य करेगा, सफलता ऐसी परिस्थितियों के सजग शासक के चरणों को चूमेगी।

कर्तव्य कर्म के पालन में अनेक बार इस प्रकार की परिस्थितियां आती है कि सही और गलत का निर्णय नही ले पाते। अर्जुन के समक्ष युद्ध के तैयार शत्रु पक्ष कोई और नही, उस के ही लालन पालन करने वाले गुरु, पितामह और सगे सम्बन्धी थे। युद्ध करना या न करना अत्यंत दुष्कर निर्णय था। किंतु गीता ही एक मात्र ग्रन्थ है जो हमे बतलाता है कि कर्तव्य कर्म क्या है, हमारा निर्णय परमात्मा की इच्छा होना चाहिए, स्थितप्रज्ञ, समभाव एवम अनन्य भक्ति में निष्काम हो कर कर्तव्य धर्म का पालन करने से हमारा योगक्षेम स्वयं परमात्मा वहन करते है, हम अपने कर्तव्य कर्म का पालन करते है, और वह हमें हमारे पाप और पुण्य से मुक्त रखते है। हमारा कर्तव्य कर्म किसी भी कामना, आसक्ति या अहम में न हो कर परमात्मा के अनन्त भक्ति एवम स्मरण करते हुए, प्रकृति को निमित्त मान कर किया हुआ है। आतातायी, दुष्ट लोगो का संहार, आसुरी प्रवृति का विरोध एवम उन को नष्ट करना व्यक्तिगत अहम या आसक्ति नही है, वह कर्तव्य कर्म है। शिवा जी ने मां तुलजा भवानी की शरण मे जाकर तलवार उठाई थी। जो अनन्य भक्ति से परमात्मा की शरण ले कर कर्तव्य कर्म करने लगते है, उन्हें स्वयं परमात्मा वो शक्ति प्रदान करते है जिस से वह अपने कर्तव्य धर्म का पालन कर सके। अर्जुन ने महाभारत का युद्ध भगवान श्री कृष्ण के

कारण जीता। आजादी की लड़ाई या बुराई के खिलाफ लड़ने वाले किसी भी सदाहरण मनुष्य में नेतृत्व की क्षमता कौन भरता है, यही योगक्षेम है। क्योंकि अहम और आसक्ति के साथ जिस ने भी सत्ता का दुरुपयोग किया, उस का नाश ही हुआ है।

मन और बुद्धि से विचार कर के हम जो कार्य करते है, उस में मन हमेशा शंकित और भय से भरा रहता है कि आगे कैसे होगा। यात्रा में यात्रा से ले कर गंतव्य स्थान तक कैसे पहुंचेंगे यही सोचते रहते है। परीक्षा में पेपर देते समय रिजल्ट और उस के बाद का सोचते है या फिर खाना भी खाते समय स्वास्थ्य और खाने के स्वाद को सोचते रहते है। किंतु अनन्य भक्ति में भक्त अपने कर्म के अतिरिक्त कुछ नही सोचता, वह वही करता रहता है जिस के प्रकृति उसे निमित्त बनाती है जिसे हम कर्तव्य कर्म भी कह सकते है।

अनन्य भक्ति से प्राप्त योगक्षेम में जीव अपना सम्बन्ध प्रकृति को छोड़ कर परमात्मा से जोड़ लेता है, तो उस का शरीर के नष्ट होने या रहने का भय भी नही होता। गुरु तेगबहादुर और गुरु गोविंद सिंह आदि सिख गुरु और उन के अनुयायियों का बलिदान इसी का प्रत्यक्ष उदाहरण है।

इसी बात को लेकर दूसरे अध्याय के पैंतालीस वें श्लोक में भगवान् ने अर्जुन के लिये आज्ञा दी कि तू निर्योगक्षेम हो जा अर्थात् तू योग और क्षेमसम्बन्धी किसी प्रकार की चिन्ता मत कर और युद्ध कर।

परमात्मा की शरण न जा कर जो अन्य देवताओं की शरण जाते है, उन के भगवान क्या कहते, पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 9.22।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.23॥

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

"ye 'py anya- devatā- bhaktā,
yajante śraddhayānvitāḥ..।
te 'pi mām eva kaunteya,
yajanty avidhi- pūrvakam"..।।

भावार्थ:

हे कुन्तीपुत्र! जो भी मनुष्य श्रद्धा-पूर्वक भक्ति-भाव से अन्य देवी-देवताओं को पूजा करते है, वह भी निश्चित रूप से मेरी ही पूजा करते हैं, किन्तु उनका वह पूजा करना अज्ञानता-पूर्ण मेरी प्राप्ति की विधि से अलग त्रुटिपूर्ण होता है। (२३)

Meaning:

Even those devotees who worship other deities, filled with faith, they also worship me only, O Kaunteya, (but) incorrectly.

Explanation:

The recurring theme of this chapter is the removing misconceptions about the worship of Ishvara. Shri Krishna again invokes that theme in this shloka. He says that those devotees who worship deities other than the infinite Ishvara ultimately worship him but do so in a wrong manner.

Many of us have been brought up in a tradition in which we worship a specific deity. As children, we are taught to invoke that deity during auspicious occasions, during periods of prosperity as well as periods of difficulty. We should be grateful to our parents for inculcating these good samskaaraas or habits in us at an early age. However, Shri Krishna says that as we grow older, it is important to have the correct knowledge of what we are worshipping, because in most cases, our knowledge is limited and incorrect.

What is this incorrect knowledge? Thinking that what we are worshipping is a finite deity in a certain form is incorrect knowledge. When we see a small government office, we do not make the mistake of thinking that a small office contains the government of an entire nation. Or when we look at a wave, we never imagine that the entire ocean is just that small wave.

Similarly, even though we worship a finite deity in our home or in a temple, we should never think that we are worshipping just that finite deity. If we think in that way, our worship will be incorrect, it will have a flaw.

So then, what is the right knowledge? It is knowing that we are worshipping Ishvara in his infinite nature. Just like we contact the entire Internet when we surf the web on our phone, we contact the infinite Ishvara when we worship a finite deity. Ishvara is the foundation of everything, therefore ultimately all prayers reach Ishvara.

For example, if a government officer redresses a complaint by a citizen, he is not credited with being benevolent. He is merely utilizing the powers in his jurisdiction that have been bestowed upon him by the government. Similarly, all the powers of the celestial gods come from the Supreme Lord. Thus, those with superior understanding do not go by the indirect route; they worship the source of all powers, which is God Himself.

Why do most devotees commit this error? This is explained next.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व में अपनी अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए भिन्न देवी - देवताओं की बात हम ने पढ़ी जिस को परमात्मा ने अपने द्वारा उन के माध्यम से इच्छा पूर्ति की बात कही थी। अब निष्काम भक्ति में जो ज्ञान के मार्ग में परब्रह्म को नही पूजते हुए, उस के विभिन्न सगुण और निर्गुण स्वरूप की पूजा करते है, उन की स्थिति को बतलाया गया है।

विश्व के सभी लोग एक ही पूजास्थल पर पूजा नहीं करते। न केवल शारीरिक दृष्टि से यह असम्भव है,वरन् मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यह तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि सब लोगों की अभिरुचियाँ भिन्नभिन्न होती हैं।भक्तगण जब भिन्नभिन्न देव स्थानों पर पूजा करते हैं, तब ये एक ही चेतन सत्य की आराधना करते हैं, जो इस परिवर्तनशील सृष्ट जगत् का अधिष्ठान है। जब वे विभिन्न देवताओं की पूजा करते हैं, तब भी वे उस एक सनातन सत्य का ही आह्वान करते हैं।

मन से जिस का मनन नही किया जा सकता, किन्तु मन ही जिस की मनन शक्ति में आ जाता है उसे तू ब्रह्म समझ, जिस की उपासना प्रतीक के तौर पर की जाती है, वह सत्य या ब्रह्म नही है। " नेति नेति" सूत्र का भी यही अर्थ है। मन और आकाश को लीजिये; अथवा व्यक्त उपासना मार्ग के अनुसार शालिग्राम, शिवलिंग ईत्यादि को लीजिये; या श्री राम, कृष्ण आदि अवतारी पुरुषों की अथवा साधु पुरुषों की व्यक्त मूर्ति का चिंतन कीजिये, मंदिरों में शिलामय अथवा धातुमय देव की मूर्ति को देखिए; अथवा बिना मूर्ति का मंदिर, या मस्जिद लीजिये- यह सब छोटे बच्चों की लँगड़ी गाड़ी के समान मन को स्थिर करने के लिए अर्थात चित्त की वृत्ति को परमेश्वर की ओर झुकाने के साधन है। प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी इच्छा और अधिकार के अनुसार उपासना के लिये किसी प्रतीक को स्वीकार् कर लेता है; यह प्रतीक चाहे कितना ही प्यारा हो, परंतु इस बात को न भूलना चाहिये कि सत्य परमेश्वर इस प्रतीक में नही है- उस से परे है। जो ईश्वर की माया को नही जानते वो मूढ लोग इन्ही प्रतीक को परमात्मा समझ कर पूजने लग जाते है। फिर बखेड़ा भी खड़ा किया जाता है कि किस का प्रतीक ज्यादा श्रेष्ठ है। यदि भावना शुद्ध न हो तो तो प्रतीक की उपासना या उस की उत्तमता को सिद्ध करने से क्या लाभ? दिन भर लोगो को धोखा देने एवम फसाने का धंधा कर के सुबह शाम या किसी त्योहार के दिन देवालय में देव दर्शन के लिये अथवा किसी निराकार देव के मंदिर में उपासना के लिये जाने से परमेश्वर की प्राप्ति असंभव है।

गीता में परमात्मा का कहना है त्रिविद्य लोग बिना यह ध्यान किये की परमात्मा प्रत्येक वस्तु में अंशतः है जिस में रूप में उपासना करें वो ही इस को प्राप्त करता है एवम फल देता है। तो यदि वो इस अव्यक्त स्वरूप को पहचानने के लिये इन अनेक वस्तुओं में से किसी भी रूप में से किसी एक को साधन या प्रतीक समझ कर उस की उपासना करें तो कोई हानि नहीं। कोई मन की उपासना करेंगे, तो कोई द्रव्य यज्ञ या जप यज्ञ करेंगे। कोई गरुड़ भक्ति तो कोई मंत्रोच्चार कर के ॐ का जप करेंगे। कोई विष्णु, कोई शिव, कोई गणपति तो कोई भवानी का भजन करते है। कोई माता पिता की सेवा तो कोई दीन दुखियों की सेवा करता है। किंतु अज्ञान से या मोह से जब यह दृष्टि छूट जाती है कि सब विभूतियों के मूल स्थान परब्रह्म है तब धर्म मे व्यापक दृष्टि नही होती। तब अनेक प्रकार के उपास्यों के विषय मे वृथा अभिमान एवम दुराग्रह उत्पन्न हो जाता है और धर्म के नाम पर लड़ाईयां या युद्ध की नोबत आ पहुचती है। कभी कभी एक ही धर्म के लोग अपने अपने उपास्यों के लिये एक दूसरे की जान तक ले लेते है।

साधुसन्तों, पैगम्बरों और अवतारों की उपाधियों में व्यक्त होने वाला आत्मचैतन्य एक ही है। सहिष्णुता हिन्दू धर्म का प्राण है। हम पहले भी विचार कर चुके हैं कि परमार्थ सत्य को अनन्तस्वरूप में स्वीकार करने वाले अद्वैती किस प्रकार सहिष्णु होने के अतिरिक्त कुछ और नहीं हो सकते हैं।

असहिष्णुता उस धर्म में पायी जाती है, जिसमें किसी देवदूत विशेष को ही ईश्वर के रूप में स्वीकारा जाता है। हिन्दुओं में भी प्राय भिन्नभिन्न पंथों एवं सम्प्रदायों के मतावलम्बी निर्दयता की सीमा तक कट्टर पाये जाते हैं। असभ्यता के कुछ ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं, जिनमें एक भक्त की यह धारणा होती है कि अन्य लोगों के देवताओं की निन्दा करना, अपने इष्ट देवता की स्तुति और भक्ति करना है परन्तु इस प्रकार के मत विकृत, घृणित और अशिष्ट हैं, जिन्हें हिन्दू धर्मशास्त्र में कोई स्वीकृति नहीं है और न ही ऋषियों द्वारा प्रवर्तित सांस्कृतिक परम्परा में उन्हें कोई स्थान प्राप्त है। उदार हृदय, करुणासागर, प्रेमस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण घोषणा करते हैं। ये भक्त भी वास्तव में मुझे ही पूजते हैं, यद्यपि वह पूजन अविधिपूर्वक है।

परमात्मा का कहना है बिना उस को जाने जब यह त्रिवेद्य अर्थात धर्म ग्रंथों को पढ़ने वाले वाले ज्ञानी लोग अपने अपने देवता की पूजा करते है और यह भूल जाते है कि उन के द्वारा की गई पूजा मेरे को ही प्राप्त होती है और उस का फल भी मैं ही देता हूँ, वो उस देवता को सर्वोपरि मान लेते है। उन की यह अर्चना एवम भक्ति अविधिपूर्वक है।

देवताओंका पूजन करनेवाले भी वास्तव में मेरा ही पूजन करते हैं क्योंकि तत्त्व से मेरे सिवाय कुछ है ही नहीं। मेरे से अलग उन देवताओं की सत्ता ही नहीं है। वे मेरे ही स्वरूप हैं। अतः उनके द्वारा किया गया देवताओं का पूजन भी वास्तव में मेरा ही पूजन है, पर है अविधिपूर्वक। अविधिपूर्वक कहने का मतलब यह नहीं है कि पूजन सामग्री कैसी होनी चाहिये उन के मन्त्र कैसे होने चाहिये उनका पूजन कैसे होना चाहिये आदि आदि विधियों का उन को ज्ञान नहीं है। इसका मतलब है - मेरे को उन देवताओं से अलग मानना। जैसे कामना के कारण ज्ञान हरा जाने से वे देवताओं के शरण होते हैं, ऐसे ही यहाँ मेरे से देवताओं की अलग (स्वतन्त्र) सत्ता मानकर जो देवताओं का पूजन करना है, यही अविधिपूर्वक पूजन करना है।

किसी कारखाने के मालिक से संवाद करना, मैनेजर या कर्मचारी या विभागीय व्यक्ति से बात करना, या किसी डीलर के माध्यम से किसी कारखाने के कर्मचारी से बात करना, वास्तव में उस कारखाने के मालिक से ही संवाद है। उस कर्मचारी के दायित्व-अधिकार

मालिक द्वारा ही दिए हुए है और वह जो कुछ भी प्राप्त करता है, मालिक को ही प्राप्त होता है। ब्रह्म का संकल्प यह सृष्टि है। जीव ने अपने ज्ञान, अनुभव, कामना, आसक्ति एवम अहम से विभिन्न विचारधाराओं और उस की पूर्ति के लिये विभिन्न देवताओं की रचना की है। यह सब उस परब्रह्म के ही स्वरूप है, उन्हें जो भी प्रदान होता है और वह जो भी देते है, वह परब्रह्म द्वारा ही होता है।

वस्तुतः यह श्लोक वेदान्त के सिंद्धान्त में द्वैत एवम अद्वैत वाद को ध्यान में रखकर पढ़ने के लिये है। परब्रह्म समस्त लोको से परे, परा एवम अपरा प्रकृति का रचयिता हो कर भी अकर्ता, नित्य, साक्षी एवम मोक्ष का अंतिम लक्ष्य है। भगवान श्री कृष्ण मानव स्वरूप में ब्रह्म का अवरित स्वरूप है। जो जीव ब्रह्म में लीन एवम मोक्ष प्राप्ति का मार्ग अपनाता है, उस को यदि छोड़ दे तो भी वह किसी भी देवताओं, धर्म या विचारधारा का पालन करता है, वह भी ब्रह्म की ही पूजा है किन्तु उस मे कामना, आसक्ति या अहम होने से कुछ न कुछ त्रुटि अवश्य रहती है। जैसे हम ने पहले भी पढा की ब्रह्म लोक को भी प्राप्त मनुष्य अपने पुण्य क्षीण होने के बाद मृत्युलोक में जन्म लेता ही है। यह श्लोक अनेकत्व वाद को सही मानते हुए भी एकत्व वाद को ही स्थापित करता है।

सनातन संस्कृति में परब्रह्म के इस ज्ञान को प्रायः सामान्य जन को नही दिया गया, इसलिए संस्कार में सनातन संस्कृति को मानने वाला अपनी अपनी कामना और ज्ञान में मोक्ष की आशा से विभिन्न देवी देवताओं अर्थात राम, कृष्ण, शिव, विष्णु या दुर्गा या लक्ष्मी या गणेश का भक्त बन जाता है। ये सगुण उपासक जिस मोक्ष की आशा से इन को अपनी आस्था और विश्वास के साथ पूजते है, उन्हे वह मोक्ष प्राप्त भी नहीं होता और अज्ञान का अंधेरा भी नही छटने से मतभेदता बनी रहती है और अहंकार से वह अपने को ज्ञानी मानते हुए, अज्ञान में ही जीवन गुजार देता है। भगवद गीता का यह श्लोक अत्यंत महत्वपूर्ण है कि हमे मोक्ष के लिए किस प्रकार से सगुण उपासना से निर्गुण, अव्यक्त और निराकार परमब्रह्म ही उपासना क्यो और कैसे करनी चाहिए।

आगे जो इस तत्व को नही जानते, उन के विषय मे भगवान क्या कहते है, पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।।9.23।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.24॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥

"ahaṁ hi sarva-yajñānāṁ,
bhoktā ca prabhur eva ca.I
na tu mām abhijānanti,
tattvenātaś cyavanti te"..II

भावार्थ:

मैं ही निश्चित रूप से समस्त यज्ञों का भोग करने वाला हूँ, और मैं ही स्वामी हूँ, परन्तु वह मनुष्य मेरे वास्तविक स्वरूप को तत्त्व से नहीं जानते इसलिये वह कामनाओं के कारण पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं। (२४)

Meaning:

For I am the recipient and also the lord of all sacrificial rituals, but they do not know me in essence. That is why they fall.

Explanation:

Earlier, Shri Krishna asserted that most people worship finite deities with the expectation of finite rewards, but ultimately, all their prayers reach the infinite Ishvara. This type of worship in itself is ok, but the result obtained through this worship can only be finite. Shri Krishna says that the reason most devotees commit this error because they do not recognize Ishvara in essence, they do not comprehend the real nature of Ishvara.

Here it is clearly stated that there are many types of yajna performances recommended in the Vedic literatures, but actually all of them are meant for satisfying the Supreme Lord. Yajna means Vishnu. In the Third Chapter of Bhagavad-gita it is clearly stated that one should only work for satisfying Yajna, or Vishnu. The perfectional form of human civilization, known as varnasrama-dharma, is specifically meant for satisfying Vishnu. Therefore,

Krishna says in this verse, "I am the enjoyer of all sacrifices because I am the supreme master." Less intelligent persons, however, without knowing this fact, worship demigods for temporary benefit. Therefore they fall down to material existence and do not achieve the desired goal of life. If, however, anyone has any material desire to be fulfilled, he had better pray for it to the Supreme Lord (although that is not pure devotion), and he will thus achieve the desired result.

Imagine that people from a remote village visit a city. They may mistake a minister's office for the nation's government. They may mistake a computer for the Internet. They may mistake a power outlet for the electric grid. Just like such people will commit grave errors unless they understand the presence of the larger in the small, we also will commit errors in our worship unless we understand the real infinite nature of Ishvara.

So therefore, when we act in this world, we should always bear in mind that the recipient of any action is Ishvara. When we feed someone, care for someone, help someone in need, we should know that ultimately we are feeding, caring for and helping Ishvara. This will reduce our sense of ego or I-ness.

Furthermore, emotions such as pride, greed and jealousy are caused because we think we own something, or we covet something that others own. If we know that the ultimate owner of everything is Ishvara, it reduces our sense of attachment and "mine-ness". Ego and attachment are great obstacles in the path of liberation, and this knowledge cuts them down.

What is the fate of such faulty worship? This is taken up next.

।। हिंदी समीक्षा ।।

परब्रह्म के संकल्प से सृष्टि की रचना हुई, अतः परमात्मा ने पहले भी कहा है कि चर-अचर, जीव-प्रकृति, जड़-चेतन एवम ब्रह्मांड के किसी भी स्वरूप में वही विद्यमान है। महाभारत के

नारायनियोपाख्यान में चार प्रकार् के भक्तो में कर्म करने वाले एकांतिक भक्त को श्रेष्ठ बतला कर कहा है कि ब्रह्मा को, शिव को, अन्यथा अन्य देवताओं को भजने वाले साधु पुरुष भी मुझ में ही आ मिलते है। सेव, पितर, गुरु, अतिथि, ब्राह्मण और गौ प्रभृति की सेवा करने वाले पर्याय विष्णु का ही यजन करते है।

भगवान श्री कृष्ण ने पूर्व में कहा था कि यह अपरा एवम परा प्रकृति उसी का अंश है वो इन सब में है किंतु यह सब उस मे नही। इसी प्रकार प्रतीक स्वरूप देवी या देवता एक प्रकार का साधन है - वह सत्य, सर्वव्यापी और नित्य परमेश्वर नही हो सकता। नाम रूपात्मक या व्यक्त या सगुण वस्तु में कुछ भी ले, वह माया है, जो सत्य परमेश्वर को देखना चाहता है उसे इस सगुण रूप से भी परे अपनी दृष्टि को ले जाना चाहिए। भगवान कहते है मै अव्यक्त हूँ तथापि कुछ मूर्ख लोग मुझे व्यक्त मानते है, जो वाचा, नेत्र या कान से गोचर हो वह ब्रह्म नही है।

हम यज्ञ करते हैं, तो यज्ञके भोक्ता देवता बनते हैं दान देते हैं, तो दान का भोक्ता वह लेने वाला बनता है कुत्तो को रोटी और गायको घास देते हैं, तो उस रोटी और घास के भोक्ता कुत्ता और गाय बनते हैं हम भोजन करते हैं, तो भोजनके भोक्ता हम स्वयं बनते हैं, आदिआदि। तात्पर्य यह हुआ कि वे सब रूपों में मेरे को न मानकर अन्य को ही मानते हैं। इसी से उन का पतन होता है। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह किसी अन्य को भोक्ता और मालिक न मानकर केवल मेरे को ही भोक्ता और मालिक माने अर्थात् जो कुछ चीज दी जाय, उस को मेरी ही समझ कर मेरे को ही अर्पण करे।

परमात्मा ने त्रिविद्य द्वारा पूजा को अविधिपूर्वक कहा। इस का कारण है कि परमात्मा की तरफ चलने में दो बाधाएँ मुख्य हैं - अपने को भोगोंका भोक्ता मानना और अपने को संग्रह का मालिक मानना। क्योंकि जब मनुष्य पूजा करते वक्त यह भूल जाता है कि समस्त संसार उस नित्य परमात्मा का अंश है और वो विशिष्ट प्रतीक स्वरूप देवता या देवी की सकाम उपासना में लग जाता है तो उस के द्वारा पूजा तो परमात्मा को ही मिलती है एवम मनुष्य उस का फल उस विशिष्ट देवी देवता से ही चाहता है और उस को उस की कामना के अनुसार फल मिलता तो परमात्मा से ही है, किन्तु वो नित्य नही होता और जिसे भोग कर वो पुनः मृत्यु लोक में आता है।

मनुष्य श्रद्धा मय है, प्रतीक कुछ भी हो, परंतु जिस की जैसी श्रद्धा होती है वैसा ही वह हो जाता है। देवताओ की भक्ति करने वाले देवलोक में, पितरों की भक्ति करने वाले पितृ लोक

में , भूतों की भक्ति वाले भूतों में एवम मेरी भक्ति करने वाले मेरे पास आते है। जो मुझे जिस प्रकार से भजता है उसी प्रकार से मैं भी उसे भजता हूँ।

शालिग्राम एक पत्थर है, उसे विष्णु मान के पूजा करे तो विष्णु लोक और यक्ष, राक्षस और अन्य किसी भूत या देवता माने तो उस लोक की प्राप्ति होगी। फल हमारी भावना एवम आस्था में है, प्रतीक में नही। किसी मूर्ति में प्राण प्रतिष्ठा का अर्थ भी यही है उस मूर्ति या प्रतीक में किसी विशिष्ट देवता की भावना की प्रतिष्ठा कर दी जाए और मनुष्य उसे उस भावना के साथ पूजे। संत तुकाराम कहते है "देव भाव का भूखा है"।

कामना के प्रभाव से , परमात्मा के परमतत्व को न जानने के कारण, मनुष्य भगवत्प्राप्ति रूप उत्तम फल वंचित रह कर स्वर्ग प्राप्ति रूप अस्थायी एवम अल्प फल को प्राप्त करते है एवम जन्म मृत्यु के चक्कर मे पड़े रहते है।

परमात्मा की आराधना में विभेद उस के स्वरूप या आराधना करने की विधि में नही है, विभेद जीव की स्वयं की कामना, आसक्ति एवम अहम में है। वह अपनी कामना या आसक्ति के अनुसार देवता को चुन कर पूजा या आराधना करता है, इसलिये उसे अज्ञानी कहा है। यदि स्वयं परमात्मा हमे कुछ मांगने को कहे तो हम मोक्ष की अपेक्षा धन, सत्ता या सांसारिक सुख ही मांगते है। मंदिर में नौकरी, व्यापार, शादी, धन, बीमारी से मुक्ति की प्रार्थनाएं अधिक होती है। हम अपनी कामनाओं के आधार पर देवता को चुन लेते है। जब कि परमात्मा ही उस पूजा के स्वीकार करता है और उस की कामना के आधार पर देवता के सामर्थ्य के अनुसार पूर्ण भी करता है, वह जो कुछ भी अर्पण करता है, वह उसी को उस देवता के माध्यम से स्वीकार भी करता है।

विभेद का दृष्टिकोण होने से कुछ अज्ञानी संसार मे सुख-दुख, अमीरी-गरीबी, स्वस्थ-अस्वस्थ, जन्म- मृत्यु की अनेक घटनाओं पर अपनी सीमित बुद्धि से परमात्मा के निर्णय पर प्रश्न उठाते है या निर्णय की आलोचना करते है। किंतु वह भूल जाते है कि कर्ता-भोक्ता तो स्वयं परमात्मा ही है, वह ही सब जगह मौजूद है, वह ही समस्त स्वरूपों में है, यह विभेद उस के दृष्टिकोण का है, परमात्मा में कोई विभेद नही है। परम् आश्चर्य यही है कि विभेद करने वाला यह जीवात्मा प्रकृति से भ्रमित परमात्मा ही है, किन्तु वह अपने को भूल गया है।

भक्ति मार्ग में ज्ञान का काम श्रद्धा एवम विस्वास से हो जाता है, इस लिए परमात्मा सर्वव्यापी, सर्वसाक्षी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और उस से भी परे अर्थात अचिन्त्य है, यह भाव रखो, आप की पूजा, भक्ति, तत्वदर्शन, ज्ञान एवम मोक्ष समस्त कार्य को जाएगा।

विभिन्न कामनाओं से विभिन्न देवताओं का यजन का प्रभाव आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।।9.24।।

।। स्वामी चिन्मयनंद द्वारा इस श्लोक की व्याख्या भी सुंदर है ।। विशेष गीता 9.24 ।।

परमात्मा का कहना है कि देवताओं के पूजक देवताओं को प्राप्त होते हैं इत्यादि। देवता, पितर, भूतों के पूजक लोग जब दीर्घकाल तक एकाग्रचित्त से अपने इष्ट की पूजा और भक्ति करते हैं, तब उसके परिणामस्वरूप उनकी इच्छायें पूर्ण होती हैं। देवता ज्ञानेन्द्रियों के अधिष्ठाता हैं। हमें जगत् का अनुभव ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ही होता है। यहाँ देवताओं से आशय इन्द्रियों के द्वारा अनुभूत सम्पूर्ण भौतिक जगत् से है। जो लोग निरन्तर बाह्य जगत् के सुख और यश की कामना एवं तत्प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं, वे अपने इच्छित अनुभवों के विषय और क्षेत्र को प्राप्त होते है। पितृव्रता शब्द का अर्थ है, वे लोग जो अपने पितरों की सांस्कृतिक शुद्धता और परम्परा के प्रति जागरूक हैं, तथा जो उन्हीं आदर्शों के अनुरूप जीवन जीने का उत्साहपूर्वक प्रयत्न करते हैं। जो व्यक्ति आध्यात्मिक भारत की प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा के अनुसार जीने का सतत प्रयत्न करता है, वह, फलत, इस शुद्धता एवं पूर्णता के अत्युत्तम जीवन की सुन्दरता और आभा प्राप्त करता है। हमारी भारत भूमि के प्राचीन ऋषियों ने इस तथ्य की कभी उपेक्षा नहीं की कि किसी भी समाज में, आध्यात्मिक आदर्शों के अतिरिक्त, वैज्ञानिक अन्वेषण तथा प्रकृति के गर्भ में निहित अनेक नियमों एवं वस्तुओं का अविष्कार भी होता रहता है। भौतिक विज्ञानों के क्षेत्र में होने वाले अन्वेषण और अनुसंधान मानव मन की जिज्ञासा का ही एक अंग हैं। अत भूतों के पूजक से तात्पर्य उन वैज्ञानिकों से है, जो प्रकृति का निरीक्षण करते हैं और निरीक्षित नियमों का वर्गीकरण कर उस ज्ञान को सुव्यवस्थित रूप देते हैं। आधुनिक युग में प्रकृति, वस्तु, व्यक्ति एवं प्राणियों के अध्ययन का ज्ञान जिन शाखाओं के अन्तर्गत किया जाता हैं, वे भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, यान्त्रिकी, कृषि, राजनीति, समाजशास्त्र, भूगोल, इतिहास, भूगर्भशास्त्र आदि हैं। इन शास्त्रों में भी अनेक शाखायें होती हैं, जिनका विशेष रूप से अध्ययन करके लोग उस शाखा के विशेषज्ञ बनते हैं। अथर्ववेद के एक बहुत बड़े भाग में उस काल के ऋषियों को अवगत प्रकृति के स्वभाव एवं व्यवहार के सिद्धांत दिये गये हैं। भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा यहाँ कथित मनोविज्ञान का नियम मनुष्य के सभी कर्मों के क्षेत्रों में लागू

होता है। वह नियम है किसी भी क्षेत्र में मनुष्य द्वारा किये गये प्रयत्नों के समान अनुपात में उसे सफलता प्राप्त होती है।इस प्रकार, यदि देवता, पितर और भूतों की पूजा करने से अर्थात् उनका निरन्तर चिन्तन करने से क्रमश देवता, पैतृक परम्परा और प्रकृति के रहस्यों को जानकर भौतिक जगत् में सफलता प्राप्त होती है, तो उसी सिद्धांत के अनुसार हमें वचन दिया गया है कि मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं। एकाग्र चित्त से आत्मस्वरूप पर सतत दीर्घकाल तक ध्यान करने पर साधक अपने सनातन, अव्यय आत्मस्वरूपका सफलतापूर्वक साक्षात् अनुभव कर सकता है। सतत आत्मानुसंधान के फलस्वरूप अन्त में जीव की आत्मस्वरूप में ही परिणति को वेदान्त के प्रकरण ग्रन्थों में भ्रमरकीट न्याय द्वारा दर्शाया गया है।गीता का प्रयोजन और प्रयत्न ज्ञान के साथ विज्ञान अर्थात् अनुभव को भी प्रदान करता है। इस श्लोक का प्रयोजन साधक को यह विश्वास दिलाना है कि यहाँ कथित प्रारम्भिक साधना के द्वारा परम पुरुषार्थ की भी प्राप्ति हो सकती है। जिस प्रकार समर्पित होकर भौतिक जगत् में कार्य करने पर भौतिक सफलता मिलती है, वही नियम आन्तरिक जगत् के सम्बन्ध में भी सत्य प्रमाणित होता है। इसका पर्यवसान आध्यात्मिक साक्षरता में होता है। सतत ध्यान अवश्य ही फलदायक होगा। भगवान् के इस आश्वासन का तर्कसंगत कारण इस श्लोक में दिया गया है।

।। हरि ॐ तत सत।। विशेष 9.24 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.25॥

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

"yānti deva-vratā devān,
pitṝn yānti pitṛ-vratāḥ..।
bhūtāni yānti bhūtejyā,
yānti mad-yājino 'pi mām"..।।

भावार्थ:

जो मनुष्य देवताओं की पूजा करते हैं वह देवताओं को प्राप्त होते हैं, जो अपने पूर्वजों की पूजा करते हैं वह पूर्वजों को प्राप्त होते हैं, जो भूतों (जीवित मनुष्यों) की पूजा करते हैं वह

उन भूतों के कुल को प्राप्त होते है, परन्तु जो मनुष्य मेरी पूजा करते हैं वह मुझे ही प्राप्त होते हैं। (२५)

Meaning:

Those who worship deities attain the deities, those who worship ancestors go to the ancestors, those who worship spirits attain the spirits, but those who worship me attain me.

Explanation:

As we are exploring the topic of worship, we should not make the mistake of thinking that worship only happens in a temple in front of a deity. In many cases, worship of individuals is something that we take for granted. If we need a loan, we have to worship the loan officer to gain his favour. If we need a job, we have to worship someone in that firm so that they can do a referral. If we need admission into a school, we have to worship the admissions officer.

The eighteenth chapter of the Gita categorizes every action into three types: saatvic, raajasic and taamasic. Worship of a guru for knowledge is saatvic worship. Worship of a loan officer for a loan is raajasic worship. Worship of a gangster to kill someone is taamasic worship. But ultimately, any knowledge that comes under the realm of the three gunaas is finite.

Human being has got a freewill that means he can choose his goal and he should choose his goal. God will not interfere in our choice; God's role is only giving us the information of what are the goals available and which goal can be reached by which path. And if you refuse to use your choice; it indirectly means that you do not want to utilise the privilege of human birth.

In this shloka, Shri Krishna gives examples of worship towards deities, ancestors and spirits that encompass most kinds of so-called spiritual worship performed today. However, as we saw earlier, the best that this kind

worship can give us is a finite material result. Even if we get to go to heaven through such worship, we will have to come back to earth one day when our merits are exhausted.

The highest devotees are those who attach their minds to the Supreme Divine Personality. The word vrata means resolve and undertaking. Such fortunate souls, who firmly resolve to worship God and engage steadfastly in His devotion, go to His divine Abode after death.

The infinite Ishvara has ability to give us liberation. Instead of asking that, we ask finite things like exam success, job success and so on. It is like asking a millionaire for pennies. We do so because we have conditioned ourselves to accept very narrow materialistic definitions of success. If our definition of success is narrow, our definition of Ishvara somehow becomes narrow as well.

So therefore, we come to the conclusion that we have to learn the correct technique of worshipping Ishvara. How does that work? Is it something arcane and complex? Shri Krishna provides a beautiful answer to that question next.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व के श्लोक में हम ने पढा की परमात्मा भाव का भूखा है। श्रद्धा एवम प्रेम से ही उस का विश्वास जीता जा सकता है। किंतु श्रद्धा एवम प्रेम अंधा है, उसे सत्य या असत्य का ज्ञान नहीं होता है। इसलिये सिर्फ श्रद्धा एवम प्रेम रखेगे तो भटक जायेगे। इस के लिए बुद्धि का सहयोग चाहिए जिस से सत्य एवम असत्य का ज्ञान हो। बुद्धि के बिना श्रद्धा एवम प्रेम अंधश्रद्धा या अन्धप्रेम ही होता है।

बिना श्रद्धा एवम प्रेम के बुद्धि या ज्ञान भी निर्रथक है क्योंकि वह हमेशा युक्तिवाद एवम तर्क में उलझ कर कभी भी कुछ नही प्राप्त कर सकती। जितना ज्ञान बिना श्रद्धा एवम प्रेम का होगा वो उतना ही स्वार्थी एवम घमंडी होगा। इसलिये श्रद्धा एवम प्रेम आदि मनो धर्म के साथ बुद्धिगम्य ज्ञान ही कर्तृत्व शक्ति उत्पन्न कर सकता है।

समस्त प्राणियों में मनुष्य को बुद्धि प्रदान है, इसलिए जहां अन्य प्राणी केवल पूर्वजन्म के भोग को भोगते है, मनुष्य इस के अतिरिक्त अपनी इच्छा शक्ति और बुद्धि से कर्म करते हुए, कर्म के फलों को भी संचित करता है।

जो मनुष्य जैसा निश्चय धारण करता है उस को उस के निश्चय के अनुसार उस के फल की प्राप्ति होती है। यह प्रकृति माया स्वरूप है जो अपने त्रियामी गुण सात्विक, राजसी एवम तामसी द्वारा इस जगत का संचालन करती है। यह तीनों गुण मनोवृति के परिचालक है। मनुष्य जिस श्रद्धा एवम प्रेम से जिस भी गुण के प्रभाव में जिस भी देवता को पूजता है वो मिलता तो परमात्मा को है किंतु वो देवता द्वारा ही मिलता है और उसी रूप में मिलता है अर्थात आप किस को किस मनोवृति से यजन करते है, परमात्मा उस को उस देवता के स्वरूप में उसी मनोवृति एवम देव स्वरूप में फल देता है।

प्रायः सात्विक अर्थात भगवान की पूजा करने वाले को यज्ञ आदि का फल स्वर्ग लोक आदि के रूप में, पितरों अर्थात राजसी पूजन करने वालो को पितृलोक एवम भूत, प्रेत, तांत्रिक पूजा करने वालों उसी के अनुसार फल मिलता है। जिस की श्रद्धा सात्विक है, वे देवताओ में, जिन की राजस है वे यक्ष- राक्षस आदि में और जिन की श्रद्धा तामस है वो भूत पिशाच आदि में विस्वास रखते है, यह प्रकृति द्वारा मनुष्य के नैसर्गिक स्वभाव पर अवलंबित है जिसे ज्ञान द्वारा, श्रद्धा एवम प्रेम द्वारा ही यथाशक्ति भक्ति भाव से सुधारा जा सकता है।

यह पूजा, श्रद्धा, प्रेम, ज्ञान मंदिरों तक सीमित नहीं है, यह मनुष्य के कर्म है, मनुष्य का हर कर्म उस का यज्ञ है, आप किसी सरकारी कर्मचारी से काम करवाते है तो वो अपने पद के अधिकार के अनुसार आप को फल देता है, आप किसी गरीब की सहायता करते है वो अपनी स्थिति के अनुसार आप को दुआ देता है, आप की धोखेबाज से काम करवाते है तो वो अपनी तामसिक बुद्धि से आप को धोखा देता है। आप का हर कर्म एक पूजा है, आप के समक्ष जो भी है वो देवता है, आप जिस कामना से पूजा करते है वो कामना के अनुसार देवता अपने सामर्थ्य से आप को फल देता है। आप का कर्म, आप के समक्ष देवता एवम उस का फल सब परमात्मा को ही प्राप्त होता है वो ही उस देवता के अनुसार आप को फल देता है। इसलिये प्रत्येक कर्म शुभ कामनाओं के साथ या बेहतर है निष्काम भाव से करे। गलत व्यक्ति से सही की आशा न रखे। सात्विक गुण में पूजे जाने से सात्विक फल ही प्राप्त होंगे। राजसी में रिश्वत, धन के लोभ में कार्य करेंगे तो राजसी लाभ होगा किन्तु अल्पकालीन होगा। लड़ाई झगड़ा, या किसी को नुकसान पहुचाने की भावना से काम करेंगे तो नुकसान ही

होगा। जीवन के हर व्यवहार, परिवार, व्यवसाय, शिक्षण, यात्रा, विज्ञान, अर्थ, भजन, कीर्तन सभी परमात्मा के ही कार्य है, सभी समक्ष व्यक्ति परमात्मा ही है, उस से समस्त व्यवहार, कामना परमात्मा ही आराधना एवम पूजन है और परमात्मा ही आप की कामना, श्रद्धा, भक्ति, निष्ठा एवम सामर्थ्य के अनुसार आप को फल देता है। किसी कारखाने का चौकीदार का पूजन आप को किसी स्थान में प्रवेश दिला सकता है और उस स्थान का मालिक आप को पद लाभ दे सकता है, यह देवता की हैसियत पर निर्भर है।

जीवन का यह नियम है कि जैसे तुम विचार करोगे वैसे तुम बनोगे। जैसी वृत्ति वैसा व्यक्ति। समय समय पर किये गये विचारों के अनुसार व्यक्ति के भावी चरित्र का रेखाचित्र अन्तकरण में खिंच जाता है। यह एक ऐसा तथ्य है, जिसकी सत्यता का अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में ही हो सकता है। मनोविज्ञान के इस नियम को आत्मविकास के आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रयुक्त करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं जो मुझे जिस भाव से, जिस रूप से, जिस कामना से पूजते है, मै उस को उसी रूप में उस के अनुसार फल देता हूँ। जो निष्काम भाव से ज्ञान युक्त मुझे पूजते है उन्हें मै परमगति भी प्रदान करता हूँ।

व्यवहारिक दृष्टिकोण से यह श्लोक जैसा बोओगे- वैसा पाओगे की पुष्टि करते हुए किसी भी विचारधारा की निंदा या तिरिस्कार न करते हुए, हर विचारधारा को सम्मानित करता है। यदि धर्म एवम अध्यात्म की उच्चकोटि की विवेचना है जो उस के विचारधारा से विभिन्न मत रखते है, उस को स्वीकार करना। वेदान्त के अनुसार परब्रह्म ही मोक्ष का अंतिम लक्ष्य है किंतु कोई परब्रह्म को स्वीकार नही कर के मृत्युलोक से ब्रह्मलोक को ही लक्ष्य मान कर अपने कर्म करता है, वह उसी को प्राप्त होता है।

गीता की धर्म या मत की बजाय एक सनातन विचारधारा प्रस्तुत करती है, जो प्रत्येक धर्म या मत पर समान रूप से लागू होती है। अतः जो इस विचारधारा को मानते है या नही मान कर अपना तर्क रख कर बहस करते है या फिर नास्तिक, आस्तिक, यज्ञ, भजन, कर्मफल या पुर्नजन्म या अन्य किसी भी देवी, देवताओं को ले कर बहस करते है, उन के लिये भी यह श्लोक उसी प्रकार से लागू है, वह भी उस की अपनी विचारधारा के अनुरूप ही फल की प्राप्ति का हकदार है। आसुरी प्रवृति या असत्य के तर्क मनुष्य के मध्य कुछ भी हो, किन्तु सत्य प्रकृति के नियम एवम कार्य-कारण के सिंद्धान्त इतने सशक्त है कि उन्हें धोखा या फेरबदल नही किया जा सकता। इस संसार को जीवात्मा के चश्मे से देखनेवाला कभी भी नही समझ सकता कि किसी जीव को यह सांसारिक सुख या दुख क्यों, कैसे और किस

कारण प्राप्त होता है, वह अपने ही अज्ञान के अहम में परमात्मा के नियम को अपनी अज्ञानता की कसौटी में तय करने लगता है।

सारांश यह है कि एक ही परमेश्वर सब जगह विभिन्न रूपो में समाया हुआ है, वह ही विभिन्न देवी-देवताओं के रूप में जीव की उपासना, कामना, आसक्ति एवम कर्मफल के रूप में फल प्रदान करता है। वह ही सब यज्ञों का भोक्ता भी है। एक श्रुति के अनुसार जो पुरुष जिस भाव मे निश्चय रखता है, वह उसी भाव के अनुरूप ही फल पाता है।

प्रश्न यह था कि जब एक ही परमात्मा सभी में समाया हुआ है तो किसी को इस संसार में दुख और किसी को सुख क्यों है? मनुष्य को इच्छा शक्ति और बुद्धि दे कर उसे अपने समकक्ष स्थान दिया है और प्रकृति ने उसे जो अहम दिया है, उस से उसे अज्ञान उत्पन्न हुआ कि वह ही कर्ता और भोक्ता है। कर्म के फल भी तुरंत नही मिलते हुए, तत्कालीन, समय के अंतर में, प्रारब्ध बन कर मिलते है। यही भोग है, जो प्रत्येक जीव को परमात्मा से अलग इस दुनिया में अलग अलग कर देता है। यदि अहंकार तो त्याग कर निष्काम हो कर लोक कल्याण में लोकसंग्रह के कार्य किए जाए तो जीव को मुक्ति से कोई नहीं रोक सकता।

परमात्मा तो प्रेम का भूखा है, उसे क्या चाहिए, आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 9.25।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.26॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

"patraṁ puṣpaṁ phalaṁ toyaṁ,
yo me bhaktyā prayacchati..।
tad ahaṁ bhakty- upahṛtam,
aśnāmi prayatātmanaḥ"..।।

भावार्थ:

जो मनुष्य एक पत्ता, एक फ़ूल, एक फल, थोडा सा जल और कुछ भी निष्काम भक्ति-भाव से अर्पित करता है, उस शुद्ध-भक्त का निष्काम भक्ति-भाव से अर्पित किया हुआ सभी कुछ मैं स्वीकार करता हूँ। (२६)

Meaning:

One who presents a leaf, a flower, a fruit or water with devotion to me, I will consume that loving gift from that pure hearted being.

Explanation:

Having described the incorrect method of worship earlier, Shri Krishna now explains the correct method in yet another gem of a shloka in this chapter. He says that Ishvara does not want any expensive gifts. To become his devotee, we can give him something that nature offers in plenty for free: a leaf, a flower, a fruit or even some water.

Why is it important to give a gift to Ishvara? Building strong relationships requires actions and attitude. Take the example of a newly married husband and wife. How do they ensure that they maintain a strong bond? To start with, they can exchange gifts during events such as Valentine's day, their wedding anniversary with cards, flowers and so on.

But material exchanges in themselves are not sufficient. There has to be quality time spent with each other. Also, there has to be an exchange of meaningful thoughts, meaningful dialogue, not just talk about movies and sports etc.

The same thing also applies to worship. When we do all kinds of rituals for ourselves such as taking a bath, applying fragrance, eating food and so on, we can at least begin worshipping Ishvara by offering a flower or some water daily. Unless our mind and our actions are both engaged in Ishvara's worship, it will be difficult to build a strong bond with him.

The word used here is prayatātmanaḥ, implying, "I accept the offerings of those whose hearts are pure."

Now, why is all this needed? One could say that we should just practice karma yoga by doing actions selflessly. But, karma yoga is incomplete without surrender to a higher ideal, and Ishvara is the highest possible ideal. Moreover, without the right emotional link to Ishvara, our pursuit will become dry and academic.

So therefore, when we offer a simple gift to Ishvara, but with an attitude of devotion, Ishvara happily consumes the gift. Our attitude should be similar to a small child presenting a gift to his father or mother, because in reality, we are offering to Ishvara what was his to begin with.

Whenever God descends upon the earth, He exhibits this quality in His divine Pastimes. Before the Mahabharat war, when Shree Krishna went to Hastinapur to explore the possibility of fashioning an agreement between the Kauravas and Pandavas, the evil Duryodhan had proudly prepared for Him a meal with fifty-six different items. However, Shree Krishna rejected his hospitality and instead went to the humble hut of Vidurani, who had been longing deeply for the opportunity to serve her beloved Lord. Vidurani was overjoyed on receiving the Supreme Lord at her home. All she had to offer was bananas, but her intellect so benumbed with loving sentiments that she did not even realize she was dropping the fruit and putting the banana peels in His mouth. Nevertheless, seeing her devotion, Shree Krishna blissfully ate the peels, as if they were the most delicious food in the world.

Once we have created this habit of worshipping Ishvara daily in our house, we should slowly bring it out of the house and into every action, as described in the next shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

विश्वास, श्रद्धा एवम प्रेम के पूर्व अध्ययन को आगे बढ़ाते है तो बुद्धि से हमे सही और गलत का ज्ञान प्राप्त होता है। किंतु जब प्रकृति के मूल स्वभाव के अंतर्गत, हम किसी शरीर को धारण करते है, तो हमे श्रद्धा एवम बुद्धि दोनों समान रूप से परिपक्क होना आवश्यक

है। जब तक यह दोनों या इस में कोई भी एक अपरिपक्क होगा तो हर व्यक्ति किसी भी बात का भिन्न भिन्न अर्थ निकालेगा।

वस्तुतः वेदों और शास्त्रों में किसी भी देवी-देवता की पूजा या यज्ञ-याग एक नियमबद्ध, सुनियोजित एवम धन के साथ दान-दक्षिणा की व्यवस्था है। जो लोग काम- आसक्ति से पूजा आदि करते है, वह उसे भव्य रूप देते है। पूर्व में अश्वमेध यज्ञ और आज के युग मे भागवद या प्रवचन आदि करवाने वाले लाखों का खर्चा करते है। किन्तु उस मे प्रबंध-दिखावा अधिक और उपासना और आराधना कम रहती है। परमात्मा का कहना है वह तो श्रद्धा, विश्वास और प्रेम का भूखा है, उसे यह सब कुछ नही चाहिए। जो सकाम भक्ति करते है उन्हे अपनी कामना और आसक्ति के अनुसार शास्त्रों में दिए विधान से कर्म काण्ड करते हुए यजन पूजा करनी होती है। किंतु जिसे कुछ नही अर्थात मुक्ति या मोक्ष की भी कामना नही हो, उस की भक्ति श्रद्धा, प्रेम और विश्वास के साथ समर्पण की होगी। उस के लिए शास्त्रों की विधि भी लागू नहीं होती।

गीता का यह अध्ययन आवश्यक नही सभी समान रूप से ग्रहण करे। किसी भी कक्षा में पढ़ने वाले सभी विद्यार्थी को शिक्षक समान शिक्षण देता है किंतु विद्या में प्रकृति में मूल स्वभाव के कारण सभी समान रूप से उस ज्ञान को ग्रहण नही करते। आदिवासी जंगल मे रहने वालों तो अंतरिक्ष के ज्ञान की शिक्षा नहीं दी जा सकती उन्हें पहले उस के लायक बनाना पड़ेगा। जो उस स्तर को प्राप्त करेगा उसे ही यह ज्ञान दिया जा सकता है। **इसलिये वेदों का ज्ञान शुद्र के लिये वंचित था, यहां शुद्र जाति विशेष न हो कर अल्प ज्ञान या मंद बुद्धि वालो के लिये कहा गया था जिस से वो ऋचाओ का अनन्य अर्थ न निकाले। किन्तु दुर्भाग्य से कुछ अल्प ज्ञानी बिना समझे वेदों की ऋचाओ का अनन्य अर्थ निकाल कर बहस करते रहते है। वे शुद्र ही है जो अपने अपक्क बुद्धि द्वारा ज्ञान को ययार्थ भाव से ग्रहण न कर के, उस पर बहस करते रहते है। किन्तु शुद्र का अर्थ मंद बुद्धि से न जोड़कर जन्म या जाति से जोड़ते है। अतः प्रथम इन को सही गुरु द्वारा उन्हें अर्वाचीन मनुष्यो की योग्यता पहुँचा देना चाहिए। गीता पर बहस करने वाले, किंतने गीता के मर्म को पहचानते है?**

सूर्य एक समान रोशनी देता है किंतु सब पौधे अपने बीज के अनुसार वृद्धि को प्राप्त होते है। प्रकाश मणि से परावर्तित होता है, मिट्टी के ढेले से नही।

भगवान् की अपरा प्रकृति के दो कार्य हैं - पदार्थ और क्रिया। इन दोनों के साथ अपनी एकता मानकर ही यह जीव अपने अल्प ज्ञान से उन का भोक्ता और मालिक मानने लग जाता है

और इन पदार्थों और क्रियाओं के भोक्ता एवं मालिक भगवान् हैं - इस बात को वह भूल जाता है। इस भूल को दूर करने के लिये ही भगवान् यहाँ कहते हैं कि पत्र, पुष्प, फल आदि जो कुछ पदार्थ हैं और जो कुछ क्रियाएँ हैं, उन सब को मेरे अर्पण कर दो, तो तुम सदा सदा के लिये आफत से छूट जाओगे । दूसरी बात, देवताओं के पूजन में विधिविधान की, मन्त्रों आदि की आवश्यकता है। परन्तु मेरा तो जीव के साथ स्वतः स्वाभाविक अपनेपन का सम्बन्ध है, इसलिये मेरी प्राप्ति में विधियों की मुख्यता नहीं है। जैसे, बालक माँ की गोदी में जाय, तो उसके लिये किसी विधि की जरूरत नहीं है। वह तो अपनेपन के सम्बन्ध से ही माँ की गोदी में जाता है। ऐसे ही मेरी प्राप्ति के लिये विधि, मन्त्र आदि की आवश्यकता नहीं है, केवल अपनेपन के दृढ़ भाव की आवश्यकता है। जो समस्त सृष्टि को धारण किए हो, उसे कोई कैसे स्वर्ण, अमूल्य रत्न आदि दे कर लुभा सकता है।

भगवान् भाव के भूखे हैं पदार्थों के नहीं। अतः अर्पण करने वाले का भाव मुख्य (अनन्य भक्तिपूर्ण) होना चाहिये। शबरी के बेर, द्रोपती के पात्र से एक चावल के दाने से सम्पूर्ण दुर्वासा ऋषि एवम शिष्यों के भूख की तृप्ति हो जाना, सुदामा के चावल एवम विदुरानी द्वारा केले के छिलके, केले के गिरी की जगह परमात्मा द्वारा स्वीकार करना इसी बात को स्थापित करता है कि परमात्मा को अनन्य भक्ति से पूजने वाला ही उन के सब से अधिक निकट है।

विश्व में कोई ऐसा धर्म नहीं है, जो भक्तों द्वारा ईश्वर को उपहार देने को मान्यता और प्रोत्साहन न देता हो। उपहार अपने प्रेम, श्रद्धा और त्याग के साथ समर्पण का प्रतीक होता है। **आधुनिक शिक्षित पुरुष को वास्तव में आश्चर्य होता है कि आखिर अनन्त परमात्मा को अपने दीपक के लिए तेल या एक मोमबत्ती या रहने के लिए मन्दिर या मस्जिद के रूप में एक घर जैसी क्षुद्र वस्तुओं की आवश्यकता क्यों होती है? किन्तु विपरीत धारणाओं के विष से विषाक्त हुई शुष्क व आनन्दहीन बुद्धि के लोग निर्लज्जतापूर्वक इसका भी आग्रह करने लगे हैं कि ईश्वर के इन घरों को अस्पताल, विद्यालय, मानसिक चिकित्सालय और प्रसूति गृहों में परिवर्तित कर देना चाहिए। परन्तु मेरा विश्वास है कि मैं ऐसे समाज को सम्बोधित कर रहा हूँ, जो कम से कम अभी तो नैतिक पतन के अधोबिन्दु तक नहीं पहुँचा है। जिस समाज में अभी भी भावनापूर्ण स्वस्थ हृदय के विवेकशील लोग रहते हैं, वहाँ निश्चय ही मन्दिरों और पूजा की आवश्यकता है। यह भी ध्यान में रखने की बात है कि इन मन्दिरों में उनकी कलाकौशल पूर्ण रचना, कर्मकाण्ड का आडम्बर या स्वर्णाभूषणों की चमक और धन का प्रदर्शन उनकी सफलता के मूल कारण नहीं हैं। यहाँ तक कि प्रतिदिन वहाँ आने वाले**

दर्शनार्थियों की संख्या पर भी उनकी सफलता निर्भर नहीं करती। इस श्लोक की प्रत्यक्ष भाषा और शैली ही यह स्पष्ट करती है कि विश्वपति भगवान् को इन भौतिक वस्तुओं का कोई मूल्य और महत्व नहीं है। वे अपने भक्त का वह प्रेम और भक्ति स्वीकार करते हैं जिससे प्रेरित होकर वह भक्त अल्प उपहार भगवान् को अर्पण करता है फिर अर्पित की हुई वस्तु चाहे पत्र, पुष्प, फल या स्वर्ण मन्दिर हो, उसका महत्त्व नहीं भगवान् कहते हैं, शुद्धचित्त के उस भक्त के द्वारा भक्तिपूर्वक अर्पित वह उपहार मैं स्वीकार करता हूँ। इसलिए भगवान को कुछ अर्पण करने की क्रिया प्रभावपूर्ण होने के लिए दो बातों की आवश्यकता है (क) वह उपहार भक्तिपूर्वक अर्पण किया गया हो तथा (ख) वह शुद्ध बुद्धि के भक्त द्वारा अर्पण किया गया हो और अर्पण का अभिमान या अहंकार अर्पण करने वाले भक्त को न हो।

यहां मुझे यह कहने में भी संकोच नही है कि दिनोदिन मंदिर भव्यता, धर्म व्यापार एवम भीड़ भाड़ के केंद्र बन रहे है। पूजा पाठ, नमाज अदा करना या विरोध करना सभी राजनैतिक महत्वाकांक्षा के केंद्र और प्रदर्शन के आधार हो रहे है। जहाँ शक्ति और धन का बोलबाला है और निर्धन को सिर्फ उस की आस्था और भक्ति ही उस ओर आकर्षित करते है, वह प्रेम से मंदिर के प्रांगण में पॉव रख कर खुश है और परमात्मा उस भक्त के आगमन से खुश है। क्योंकि उस भक्त का परमात्मा से सम्बन्ध किसी VIP का न हो कर आत्मिक होता है। सुदामा ही परब्रह्म से अपने चरणों को धुलवाने की क्षमता अपने प्रेम और समर्पण से रखता है, किन्तु किसी राजा के पावँ कभी कृष्ण ने नही धोए। वृंदावन की गोपियां-ग्वाले ही भगवान श्री कृष्ण को अपने साथ नचा सकते है, कोई मथुरा या द्वारका के वासी नही।

निर्धनता, दुर्बलता, अशिक्षा एवम अज्ञानता, कभी भी सरलता एवम सादगी नही होती। आर्थिक संपन्नता एवम शक्ति किसी भी राष्ट्र के विकास का माध्यम है, किन्तु यह किसी को प्रभावित कर के उस से अपेक्षित परिणाम का कारण बने, यह परमात्मा के विषय मे संभव नही। परमात्मा सरल, सादगी, प्रेम, श्रद्धा और विश्वास से ही संतुष्ट है। आर्थिक विकास राष्ट्र, समाज और मानव जाति की आवश्यकता है, किंतु श्रद्धा, विश्वास और सरलता मानवता की आवश्यकता है। विज्ञान यदि मानव समाज के जीवन को उन्नत बनाता है तो अध्यात्म से मानव समाज सभ्य भी बनता है।

विवेक पूर्ण किया गया कर्म जो लोकसंग्रह के लिए हो, वही श्रेष्ठ है, इसलिये कर्मयोग को विवेकपूर्ण तरीके से भक्तिमार्ग में रूपांतरित किया गया है, जिस से अहंकार अर्थात कर्ता और भोक्ता भाव उत्पन्न न हो। कर्म करते हुए भी श्रद्धा, विश्वास और प्रेम के साथ जीव

किस प्रकार परमात्मा को समर्पित हो कर ह्रदय में धारण कर सकता है, यही परमात्मा का भाव है। वह दिखावे के आडंबर से प्रभावित नही होता, उसे तो निश्चल प्रेम से ही प्राप्त किया जा सकता है। परमात्मा को सरल भाव से प्राप्त करना चाहिए, जिस ने सम्पूर्ण ब्रह्मांड की रचना की, उसे कोई भी नही प्रकृति के जड़ पदार्थ से प्रभवित कर सकता है।

हम इतना महान गहन रहस्य जानने के बाद, परमात्मा को किस प्रकार प्राप्त किया जा सकते है, आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 9.26।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.27॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

"yat karoṣi yad aśnāsi,
yaj juhoṣi dadāsi yat..।
yat tapasyasi kaunteya,
tat kuruṣva mad- arpaṇam"..।।

भावार्थ:

हे कुन्तीपुत्र! तू जो भी कर्म करता है, जो भी खाता है, जो भी हवन करता है, जो भी दान देता है और जो भी तपस्या करता है, उस सभी को मुझे समर्पित करते हुए कर। (२७)

Meaning:

Whatever you do, whatever you eat, whatever you offer in a sacrifice, whatever you donate, whatever you practice as penance, O Kaunteya, offer it to me.

Explanation:

In the previous verse, Shree Krishna stated that all objects should be offered to Him. Now He says that all actions should also be offered to Him. Whatever social duties one may be engaged in, whatever vegetarian

food one may be eating, whatever non- alcoholic beverages one may be drinking, whatever Vedic rites one may perform, whatever vows and austerities one may observe, should all be offered mentally to the Supreme Lord.

Shri Krishna explains the technique of bringing worship into daily life. Previously we learnt the technique of worshipping Ishvara using simple offerings like water. Once we get used to the worship of Ishvara in the home and in the temple, we need to bring that spirit of worship into all of our actions. In other words, we need to learn how to bring divinity into our actions. To that end, this shloka urges us to perform all actions as an act of worship towards Ishvara.

The simplest and most common action we perform is that of eating. Shri Krishna says that even the act of eating should be considered an act of worship. Traditionally, before every meal, the first five morsels are offered to the deity within with the words “praanaaya svaaha”. The rest of the meal should be consumed with the attitude that the act of eating is occurring in the service of Ishvara, and not for the appeasement of our senses.

Now, take another action like exercising, for instance. How do we transform that into an act of worship? Anything that causes discomfort in the short term, but gets us gains in the long term, is an act of “tapas” or penance. Shri Krishna says that we can convert any action into a penance if we imbibe it with the attitude of worship. So if we have to take a long walk for exercising, for example, we can imagine that we are doing a “pradakshina”, that we walking around a temple. In this manner, even a discomforting act becomes divine.

Similarly, any action that requires strenuous effort and long hours can be made into an act of sacrifice. If we have to put in extra hours of work, we

have to sacrifice our leisure time in the process. We can think of those extra hours of work as an offering in a "yagnya" or sacrifice.

In other words, we need not go through elaborate rituals with fire and butter and priests and so on. Any action can be converted into an act of worship. When we donate, we can think that we are returning to Ishvara what was Ishvara's to begin with. When we go on a diet, we can imagine that we are conserving Ishvara's energy, and so on.

What is the rationale for "divinizing" all of our actions? The notion of doership and enjoyership, the two main obstacles to liberation, get progressively diluted. Instead of thinking "I did this" and "I enjoyed this", we begin to think that "Ishvara did it, and Ishvara gets the results". Consequently, our stress levels and worries begin to reduce as well.

This takes us back full circle to karma yoga, but with the added dimension of devotion. Karma yoga without bhakti yoga is incomplete. Without the attitude of devotion, we can potentially commit wrong or harmful actions that we will hesitate to perform in front of Ishvara. With devotion, karma yoga is complete.

Saint Kabir stated this in his couplet: "Wherever I walk, I feel I am circumambulating the Lord's temple; whatever I do, I see it as service to God. When I go to sleep, I meditate on the sentiment that I am offering obeisance to God. In this way, I remain ever united with Him."

Without realizing its significance, many people say the following verse in temples:

kāyena vāchā manasendriyair vā buddhyātmanā vānusṛita-svabhāvāt

karoti yad yat sakalaṁ parasmai nārāyaṇāyeti samarpayet tat

(Bhagavatam 11.2.36)

“Whatever one does with body, words, mind, senses, and intellect, in accordance with one’s individual nature, should be offered to the Supreme Lord Narayan.” However, this act of offering is not to be done at the end of the work by merely reciting mantras, such as śhrī kṛiṣhṇāya samarpaṇam astu, etc., as is done in the Vedic rituals. It is to be done while performing the action itself, by maintaining the consciousness that we are working for the pleasure of the Lord.

So, while defining karma yōga in the 2nd and third chapters, Krishna said karma yōga is īśvara arpaṇa bhavāna and prasādaḥ bhavāna. Here Krishna says Niṣkāma kāma bhakthi involves īśvara arpaṇa bhavāna and prasādaḥ bhavāna; join these two together; what is our conclusion; karma yōga is identical with niṣkāma bhakthi; Karma yōga and niṣkāma bhakthi are synonymous.

Then why these two different names? From the standpoint of the action, it is called karma yōgaḥ; and from the standpoint of the attitude, it is called niṣkāma bhakthi; sādhanā driṣtya karma yōgaḥ; bhavāna driṣtya niṣkāma bhakthi yōgaḥ. And therefore, Krishna said, tat kuruṣva madarpaṇam; īśvararpaṇam.

Shri Krishna reveals the result of worshipful actions in the next shloka.

Footnotes:

1. Devotion comprises three aspects: seva (service), shraddha (faith) and Ishvara mahaanata (greatness of Ishvara)

।। हिंदी समीक्षा ।।

गीता में कर्म को किस प्रकार करना चाहिए, भक्तिमार्ग का यह श्लोक को पढ़ने से पहले हम प्रथम श्लोक को याद करते है, जिस में इस राजगह्य ज्ञान की पात्रता के लिये अर्जुन को अनुसूय कहा गया था। अतः इस अध्याय में जो भी ज्ञान है वह दैवीय प्रवृति के सात्विक-राजसी मनुष्य के लिये ही है।

पूर्व में हम ने यह भी पढ़ा है कि इस गुह्यतम ज्ञान को श्रद्धा, विश्वास,प्रेम, स्मरण एवम समर्पण के साथ पढ़ना है, अतः इस ज्ञान का अधिकारी वही है जिस ने कामना, आसक्ति एवम अहम का परित्याग कर दिया हो।

जीव के कर्म को पांच प्रकार् से विभाजित करते हुए, परमात्मा का कहना है कि तुम जो भी अर्थो उपार्जन एवम जीविका के लिये कर्म करते हो, जो भी भोजन आदि ग्रहण करते हो, अर्थात जो भी लौकिक कर्म करते हो, एवम जो भी जप, तप, दान, धर्म आदि श्रोत कर्म करते हो, वह मुझे अर्पित करते हुए कर। अक्सर अज्ञान में अर्थार्थी, आप्त या जिज्ञासु भक्त सभी कर्म को परमात्मा को समर्पित कर के उस के फल यदि कामना के अनुसार न हो तो, परमात्मा को दोषी मानने लगते है।

पूर्व के श्लोक में अविधिपूर्वक त्रिविद्य लोको द्वारा यजन को स्पष्ट करते हुए, श्रद्धा एवम विस्वास के साथ परमात्मा का ही पूजन करना चाहिए बताया। इस के बाद श्रद्धा एवम विश्वास में ज्ञान द्वारा अंध विश्वास से बचते हुए सभी का यजन परमात्मा का ही, यह मानते हुए करने को कहा और यह भी कहा कि उसे किसी धन, सम्पति, स्वर्ण आभूषण की आवश्यकता नही, सिर्फ और सिर्फ प्रेम, श्रद्धा और विश्वास चाहिए।

इस पर भी कोई कहे कि आज के युग मे सांसारिक इतना दवाब रहता है कि हर समय श्रद्धा एवम विश्वास के साथ कीर्तन करना संभव नही तो भगवान एक सरल उपाय बताते हुए कहते है " मय्येव मन आधत्स्व" अर्थात मेरे शुद्ध रूप में तू अपने मन को स्थिर कर, और इस के बाद परमेश्वर स्वरूप को मन मे स्थिर करने का उपाय बताते है यदि तू मेरे स्वरूप में अपने मन को स्थिर न कर सकता हो, तो तू उस का अभ्यास अर्थात बार बार प्रयत्न कर; यदि तुझ से अभ्यास भी न हो सके तो मेरे लिए चित्त शुद्ध कारक कर्म कर; यदि यह भी न हो सके तो कर्म फल का त्याग कर आए उस से मेरी प्राप्ति कर ले।

जब कोई मनुष्य एक बार भक्ति मार्ग से चलना शुरू कर देता है, तब इस जन्म में नही तो अगले - अगले जन्म में कभी न कभी उस को परमेश्वर के स्वरूप का ययार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि यह सब वासुदेव ही है।

भगवान् उस स्वतन्त्रता को अपने अर्पण करनेके लिये अर्जुन से कहते हैं। यह पद ऐसा विलक्षण है कि इसमें शास्त्रीय, शारीरिक, व्यावहारिक, सामाजिक, पारमार्थिक आदि यावन्मात्र क्रियाएँ आ जाती हैं। भगवान् कहते हैं कि तू इन सम्पूर्ण क्रियाओं को मेरे अर्पण कर दे अर्थात् तू खुद ही मेरे अर्पित हो जा, तो तेरी सम्पूर्ण क्रियाएँ स्वतः मेरे अर्पित हो जायँगी।

अतः जो चीज या क्रिया भगवान् के अर्पण की जायगी, वह भगवान् की आज्ञा के अनुसार, भगवान् के अनुकूल ही होगी। जैसे किसी त्यागी पुरुष को कोई वस्तु दी जायगी तो उसके अनुकूल ही दी जायगी। निषिद्ध वस्तु नहीं दी जायगी। ऐसे ही भगवान् को कोई वस्तु या क्रिया अर्पण की जायगी तो उनके अनुकूल, विहित वस्तु या क्रिया ही अर्पण की जायगी, निषिद्ध नहीं। कारण कि जिसका भगवान् के प्रति अर्पण करनेका भाव है, उस के द्वारा न तो निषिद्ध क्रिया होने की सम्भावना है और न निषिद्ध क्रिया अर्पण करने की ही सम्भावना है। अगर कोई कहे कि हम तो चोरी आदि निषिद्ध क्रिया भी भगवान् के अर्पण करेंगे तो यह नियम है कि भगवान् को दिया हुआ अनन्त गुणा हो करके मिलता है। इसलिये अगर चोरी आदि निषिद्ध क्रिया भगवान् के,अर्पण करोगे, तो उसका फल भी अनन्त गुणा हो करके मिलेगा अर्थात् उसका साङ्गोपाङ्ग दण्ड भोगना ही पड़ेगा।

परमात्मा का स्मरण ही शुद्ध चित्त से करते हुए, निष्काम भाव से कर्म करना ही मुख्य मार्ग है जिस से आगे के रास्ते स्वतः ही खुलते जाते है जिस से मन की ऐसी अवस्था हो जाती है कि " वासुदेवः सर्वम" उपास्य और उपासक का भेद मिट जाता है और अंत मे शुद्ध ब्रह्मानंद में आत्मा का लय हो जाता है।

परमात्मा कहते है तू बस एक बार शुद्ध चित्त से स्मरण करना शुरू तो कर और अपने कर्म मुझ को समर्पित कर दे फिर मैं स्वयं इस कार्य को, तुम्हारी निष्ठा को आगे बढ़ाता चलुगा और अंत मे अपने यथार्थ स्वरूप का पूर्ण ज्ञान भी करा दूंगा।

इस प्रकार से सभी क्रियाए भगवान को समर्पित करते हुए करने का अर्थ यह नही है कि जीव कर्म करने के अधिकार से बाहर हो जाये। कर्म को पूर्ण निष्ठा, कर्मठता, विवेक पूर्वक अपने कर्तव्य धर्म से करना ही सात्विक/ राजसी गुण है। निंद्रा, आलस्य एवम अविवेकपूर्ण कार्य करना तामसी वृति है। भक्तियोग तामसी वृति का निषेध करता है।

स्वामी विवेकानन्द ने भी कर्म के प्रति इस प्रवृत्ति को व्यक्त किया है जब उन्होंने यह उपदेश दिया-"कोई कार्य लौकिक नहीं है। सब कुछ भक्ति और सेवा है।"

संत कबीर अपने दोहे में कहते हैं। जहँ जहँ चलुं करूँ परिक्रमा, जो जो करूँ सो सेवा।

जब सोवू करूँ दंडवत, जानें देव न दूजा।।

"मैं भी चलता हूँ, मैं अनुभव करता हूँ कि मैं भगवान के मंदिर की परिक्रमा कर रहा हूँ। मैं जो भी कर्म करता हूँ उसे मैं भगवान की सेवा के रूप में देखता हूँ जब मैं सोता हूँ तब मैं

इस भाव का ध्यान करता हूँ कि मैं भगवान की आज्ञा का पालन कर रहा हूँ। इस प्रकार मैं भगवान में एकनिष्ठ हो जाता हूँ।"

निम्नांकित श्लोक का अभिप्राय समझे बिना मंदिरों में अधिकतर लोग इसका उच्चारण करते हैं।

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात् ।

करोति यद् यत् सकलं परस्मै नरायणायेति समर्पयेत्तत् ।।

(श्रीमद्भागवतम्-11.2.36)

"कोई भी शरीर से, वाणी से, इन्द्रियों से, बुद्धि से, अहंकार से, अनेक जन्मों अथवा एक जन्म की प्रवृत्तियों से स्वभाववशः जो भी करता है वह सब परम प्रभु नारायण को समर्पित करना चाहिए।" किन्तु यह अर्पण कार्य के अंत में केवल मंत्रों का उच्चारण द्वारा नहीं किया जाना चाहिए। जैसे कि 'श्रीकृष्ण समर्पण अस्तु' आदि मंत्रों का उच्चारण वैदिक अनुष्ठानों में किया जाता है। इस अर्पण को इस चेतना के साथ क्रियान्वित करना चाहिए कि हम जो भी कार्य करते हैं वे सब भगवान के सुख के लिए हैं। यह कहकर कि सभी कार्य भगवान को अर्पित करने चाहिए।

जो भक्त अपने जीवन के समस्त व्यवहार में इस दिव्य तत्त्व का स्मरण रख सकता हैं वही पुरुष जीवन को वह आदर और सम्मान दे सकता हैं, जिसके योग्य जीवन हैं। यह नियम है कि जीवन को जो तुम दोगे वही तुम जीवन से पाओगे। तुम हँसोगे तो जीवन हँसेगा और तुम चिढोगे तो जीवन भी चिढेगा उसके पास आत्मज्ञान से उत्पन्न आदर और सम्मान के साथ जाओगे, तो जीवन में तुम्हें भी आदर और सम्मान प्राप्त होगा। समर्पण की भावना से समस्त कर्मों को करने पर न केवल परमात्मा के प्रति हमारा प्रेम बढ़ता है, बल्कि आदर्श प्रयोजन और दिव्य लक्ष्य के कारण हमारा जीवन भी पवित्र बन जाता हैं। परमात्मा को समपर्ण का अर्थ ही परमात्मा ही करनेवाला, परमात्मा ही करवाने वाला और परमात्मा ही पानेवाला, फिर मैं अर्थात अहम नही, कोई कष्ट नहीं, कोई हार नहीं और कोई निराशा भी नही। बस आनंद ही आनंद ही हो।

तन, मन एवम कर्म से समर्पित होने से जीवात्मा का सम्बन्ध प्रकृति से टूट कर परमात्मा से जुड़ जाता है। इस से क्या होगा, इस को अगले श्लोक में पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 9.27।।

।। समर्पित भाव और हम ।। विशेष गीता - 9.27 ।।

जन्म के साथ ही जीव अपना रिश्ता मां - पिता, भाई - बहन और अन्य रिश्तेदारों से जोड़ने लगता है और भोजन उस की प्राथमिकता हो जाती है। आनंद के लिए खेलने की क्रियाएं होती है, जो उम्र के बढ़ने के साथ साथ जीवन को चलाने के लिए व्यवसायिक शिक्षा में व्यतीत होती है। कालांतर में उच्च शिक्षा, शादी विवाह और परिवार - नौकरी या व्यवसाय में जीवन व्यतीत करते है जिस में अध्यात्म का स्थान अंतिम और जीवन के संकटों से बचने के लिए होता है। किंतु शनैः शनै: परिस्थितियां हमे मजबूर करने लगती है कि हम सर्व शक्तिमान नही है और जिस शरीर की हम अपना समझ रहे है, वह क्षय होते हुए, समाप्त हो जाएगा। यही समय है जब जीवन में अध्यात्म जो अंतिम श्रेणी में होता है, वह ऊपर की ओर उठने लगता है और हमारा ध्यान परमेश्वर की ओर अपने उद्धार के लिए होने लगता है। यह समझ कब आती है, इस का कोई तय समय नही है किंतु जीवन में आती अवश्य है। इस से पूर्व तो अध्यात्म भी प्रकृति की योगमाया का ही एक अध्याय है। **सांसारिक जीवन का कटु सत्य यही है कि मुक्ति के लिए मिला जीवन कर्म फल की कामना और आसक्ति में पुनः पुनः बंधन को अज्ञान में स्वीकार करता है और जीव इसी प्रकृति में जन्म - मरण के दुख को भोगता हुआ, प्रकृति और उस की योगमाया से मोहित रहता है। उस का अज्ञान ही उस का ज्ञान है।**

चार प्रकार के भक्त हमने पढ़े है, आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी। आर्त और अर्थार्थी भक्त सकाम भक्त होते है और जिज्ञासु भगवान को जानने का इच्छुक रहते है और ज्ञानी परमात्मा के समकक्ष उठने की चेष्टा करता है। तो इस में हम जिस भक्त की बात कर रहे है वह इन में से ही जो भक्त निष्काम भाव से परमात्मा के प्रति अनन्य श्रद्धा, विश्वास और प्रेम रखता है, वही परमात्मा को प्रिय है। यह भक्त का प्रकार नही, उस के गुण विशेष अर्थात अनन्य भक्ति की बात है। अतः इस जगह हम उस निष्काम कर्मयोगी की बात कर रहे है जो श्रद्धा, प्रेम और विश्वास के साथ परमात्मा के प्रति समर्पित है। यह समर्पण का भाव उसे अपने कर्तव्य कर्म के पालन के लिए प्रेरित करता है जिस के लिए प्रकृति उसे निमित्त बनाती है अर्थात वह सृष्टि यज्ञ चक्र में जैसे सूर्य, चंद्र या वायु, नदी आदि अपने

अपने नियमित कर्म करते है, वह भी अपना निमित्त कर्म परमात्मा का कर्म समझ कर करता है।

अर्जुन ने युद्ध के समय भगवान श्री कृष्ण की नारायणी सेना और निहत्थे कृष्ण में कृष्ण को चुना क्योंकि उस की श्रद्धा और विश्वास में संसार की अजेय सेना से भी ज्यादा भगवान कृष्ण पर था, जिन्होंने युद्ध में हथियार नहीं उठाने की बात कही थी। इसलिए उसे केवल भगवान कृष्ण का साथ ही चाहिए था, युद्ध तो उसे ही लड़ना था।

सत्व स्वयं को पवित्रता, ज्ञान और सद्भाव के रूप में प्रकट करता है। यह अच्छाई, खुशी, संतुष्टि, बड़प्पन और संतोष की विशेषता है। सत्व गुण भय, हिंसा, क्रोध और द्वेष से मुक्त है। हम इसे अपने भीतर की सबसे शुद्ध और सबसे क्षमाशील शक्ति के रूप में सोच सकते हैं। इसी प्रकार अनुसुय का अर्थ है नुक़ताचीनी या छिद्रान्वेषण न करना; दूसरों के अवगुणों की तरफ़ ध्यान न देना। यदि हम ध्यान दे तो अर्जुन सत्वप्रधान रज गुण में अनुसूया था। उस ने शास्त्र का अध्ययन भी किया और युद्ध विद्या का भी। वह महाभारत युद्ध में युद्धिष्ठर की ओर से लड़ने आया था, अर्थात युद्ध के बाद भी राज्य उस के भाई को प्राप्त होना था। उस में ममता, मोह आदि गुण थे जिस से युद्ध में विरक्ति आ गई थी।

भागवद में कहा गया है कि जो मन मे भेद भाव नही रखता कि मै अलग हूँ, भगवान अलग है और सब लोग अलग है, किन्तु जो सब प्राणियों के विषय मे यह भाव रखता है कि भगवान और मै दोनो एक ही है और जो समझता है कि सब प्राणि भगवान में और मुझ में भी है, वही भागवद को श्रेष्ठ जानने वाला है।

अध्यात्म में अव्यक्त परब्रह्म को महत्व देने के बावजूद व्यक्त परब्रह्म को भी बताया गया है। सम्पूर्ण सृष्टि - ब्रह्मांड उसी अव्यक्त परमेश्वर का व्यक्त स्वरूप है। इसलिये भक्तिमार्ग में व्यक्त परमेश्वर को हर जगह देखने वाला ही इस जगत को आत्ममय स्वरूप में देख सकता है। अर्जुन को विश्वरूप दर्शन में परमात्मा ने उसे दिव्य दृष्टि दे कर अपने ब्रह्मांड के सम्पूर्ण व्यक्त स्वरूप के दर्शन करवा कर, सम्पूर्ण जगत को ब्रह्ममय होने का प्रमाण दिया था।

सांख्य एवम वेदान्त के अनुसार कर्म (फल) का क्षय ज्ञान से होता है, किन्तु भक्तिमार्ग कहता है कि सम्पूर्ण जगत ही ब्रह्ममय है अतः वही ज्ञान, वही कर्म, वही ज्ञाता, वही कर्ता और वही फल देने वाला है। अतः संचित, प्रारब्ध, क्रियमाण इत्यादि कर्मोभेदो के झंझट में न

पड़ कर भक्तिमार्ग द्वारा यह प्रतिपादित किया जाता है कि कर्म की बुद्धि देने वाला, कर्म का फल देने वाला और कर्म का क्षय करनेवाला एक मात्र परमेश्वर ही है।

अध्यात्म के ज्ञान मार्ग में परब्रह्म से संकर्षणरूपी जीव उत्पन्न हुआ, फिर उस से प्रद्युन्म अर्थात मन, मन से अहंकार उत्पन्न हुआ। यह चार विभेद भक्तिमार्ग में त्याग कर सम्पूर्ण परब्रह्म की कर्ता और कर्म मान लिए गए। भक्तिमार्ग को गीता ने अपने कर्म सिंद्धान्त के साथ स्वीकार किया है, इसलिये श्रद्धा, विश्वास, प्रेम, स्मरण और समर्पण के साथ कर्म करने को कहा है।

जो कुछ भी कर्म करे, वह कृष्ण अर्पण बुद्धि से करे। ब्रह्मार्पण ब्रह्म हवि: यह ज्ञान तत्व है, यह भक्तिमार्ग में मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य अर्थात मुझ में सभी कर्मो का संयास कर के युद्ध कर - (गीता 3.30), फिर पांचवे अध्याय में कहा है कि " ब्रह्म में कर्मो को अर्पण कर के, संग रहित कर्म करने वाले को, कर्म का लेप नही लगता"। गीता के अनुसार कर्मसंन्यास का अर्थ कर्म का त्याग नही करना है, वरन कर्म की फलाशा को त्याग कर अपने कर्तव्य कर्म को करने वाला ही नित्य सन्यासी है। गीता कर्म त्याग रूपी सन्यास को स्वीकार नही करती। भागवद पुराण में भी यही ज्ञान नरसिंह रूप में भगवान प्रह्लाद को देते है कि मुझ में चित्त लगा और अपने सभी कर्तव्य कर्म को कर। अपने सभी कर्म नारायण को समर्पित कर दे।

कर्मयोग, ज्ञानयोग एवम भक्तियोग सभी मे गीता कर्तव्य कर्म को सात्विक भाव, श्रद्धा, प्रेम, विश्वास, स्मरण एवम समर्पित हो कर करने को कहती है। इस मे आसुरिवृति रख कर जो अनर्थ करते है, कामना-आसक्ति या अहम रखते हुए, अपने समस्त कार्यो का दोषारोपण परमेश्वर पर करते है, वह अज्ञानी ही है। गीता अध्ययन में ज्ञान का अधिकारी होने के लिये अनुसूय होना आवश्यक है, किन्तु आश्चर्य यही है कि हम अध्यात्म भी अपने सांसारिक क्षणिक सुखों के आधार पर कामना, आसक्ति और अहम से प्राप्त करने की चेष्टा करते है, परमात्मा भी यही कहते है कि मुझे जो जिस भाव और जिस रूप में पूजता है, मैं उसे उसी स्वरूप में उस की योग्यता के अनुसार फल प्रदान करता हूँ। हमारी योग्यता का मापदंड ही हमारा सात्विक तप है।

अतः जिस समय हमारे अंदर समर्पित भाव सात्विक स्वरूप में कामना और आसक्ति से मुक्त हो कर आ जाए तो हमारे सभी कार्य भोजन ग्रहण करने से ले कर व्यापार, व्यवसाय, घर - परिवार, समाज और देश के कार्य परमात्मा के लिए समर्पित कर्म हो जाएंगे। फिर हम

कितने भी ऊंचे पद पर हो, धनी हो, कल कारखाने के मालिक हो या परिवार या समाज में किसी भी स्थान में हो, हमारे अंदर प्रभु के सेवक का भाव हमे विन्रम और कार्य कुशल बनाएगा। हम अपना कार्य बिना किसी से द्वैष, ईर्ष्या, घृणा या प्रेम से कर सकते है। यही चरित्र भगवान श्री कृष्ण ने अपने मानव अवतार में जीकर दिखाया।

आज यदि कोई मंदिर रोज जाता है या रोज माला फेरता है या गैरूवे वस्त्र धारण कर आश्रम चलाता है और वह यह सब कामना और आसक्ति में अहंकार में करता है तो वह प्रकृति की योगमाया में ही कृत्य करता है जिस में उस का अहम उस के कर्ता भाव को और विलास उस के भोक्ता भाव का प्रतीक है। किंतु यही कार्य परमात्मा के सेवक के रूप में कामना, आसक्ति और अहंकार को त्याग कर करता है तो यही कार्य निष्काम समर्पित भाव का कर्म योग है। अंतर कर्म में नहीं उसके प्रति जीव के अपने ही चरित्र और अंतर्मन में है।

सांसारिक कर्म को जब जीविकोपार्जन, लोकसंग्रह एवम जनकल्याण हेतु किया जाए तो यह कर्म सन्यास ही है, गीता में पूर्व में भी भगवान श्री कृष्ण ने बताया था कि ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना के बाद सभी जीव को कर्म करते हुए, अधिक से अधिक त्याग करना चाहिये, सम्पूर्ण प्रकृति सूर्य, चन्द्र एवम पंच भूत सभी देवी देवता तो अर्पण करते हुए जो त्याग की भावना से कर्म करेगा, उसे प्रकृति एवम देवी देवता भी उतना प्रदान करेंगे और सृष्टि यज्ञ चक्र चलता रहेगा।

।। हरि ॐ तत सत ।। विशेष 09.27 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.28॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्य से कर्मबंधनैः ।
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥

"śubhāśubha-phalair evaṁ,
mokṣyase karma- bandhanaiḥ..।
sannyāsa- yoga- yuktātmā,
vimukto mām upaiṣyasi"..।।

भावार्थ:

इस प्रकार तू समस्त अच्छे और बुरे कर्मों के फ़लों के बन्धन से मुक्त हो जाएगा और मन से सभी सांसारिक कर्मो को त्याग कर (सन्यास-योग के द्वारा) मन को परमात्मा में स्थिर करके विशेष रूप से मुक्त होकर मुझे ही प्राप्त होगा। (२८)

Meaning:

In this manner, you will be free from the bonds of action and their auspicious and inauspicious results. Having engaged in this yoga of renunciation, you will be liberated and attain me.

Explanation:

What happens when we incorporate devoted worship into our life? Shri Krishna says that we shall be free of the results of action. Our actions give us results in the form of joy, sorrow, profit, loss, win, loss. Freedom from results leads to liberation and attainment of Ishvara. This is the ultimate result of living a worshipful life.

When we walk on the earth, we unknowingly kill millions of tiny living entities. In our occupational duties, no matter how careful we are in the fulfilment of our duties, we still end up harming the environment and hurting others. Even if we eat a cup of yogurt, we still incur the sin of destroying the living entities that reside in it. Some religious sects try to reduce this involuntary killing by tying a cloth over their mouth. Even this does not fully eliminate the destruction of living entities in our breath.

When we perform our actions with the intention of fulfilling our self-interest, we are culpable for the sins we commit, knowingly or unknowingly. In accordance with the law of karma, we have to reap their karmic reactions. Good works can also be binding because they oblige the soul to go to the celestial abodes to enjoy their results.

This shloka takes us back to the topic of renunciation. In an earlier portion of the Gita, Shri Krishna had redefined “sannyaasa” or renunciation as giving

up of the attitude of doership, not the giving up of action and retiring to a hermitage. By submitting our actions and their results in Ishvara hands, we automatically attain renunciation because we have come to know that it is Ishvara who is doing and enjoying everything.

As an illustration, let's consider our boss at work. If we do not have confidence in our boss's authority and his ability to lead us, our job becomes complicated, heavy and burdensome. Before we begin a task, we are worried whether we are doing the right things, and also fear the consequences of making a mistake. But if we trust our boss's authority and his ability to give us right direction, we work effortlessly and fearlessly knowing that we are carrying out the boss's command, and that he will take care of us if something goes wrong.

Similarly, once we realize that it is the infinite Ishvara that is directing everything, our actions automatically become effortless and fearless. It is like working for the most powerful CEO or the most powerful President, it gives us that kind of a confidence and peace of mind. We know that Ishvara is making us do the right things, and that he will take responsibility for the results and the consequences.

Shree Krishna gives a simple solution for destroying all karmic reactions of work. He uses the word sanyās yog, meaning renunciation of selfishness. He says that when we dedicate our actions for the pleasure of the Lord, we are freed from the fetters of both good and bad results.

Those who establish themselves in such consciousness are called yog yuktātmā (united in consciousness with God). Such yogis become jīvan mukt (liberated in consciousness) even in this body. And, upon leaving their mortal frame, they receive a divine body and eternal service in the divine Abode of God.

Now, if Ishvara is running everything, does that mean that he is partial to those who surrender to him and those who do not? This is taken up next.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व श्लोक में वर्णित पांच प्रकार के कर्म जिस में दो लौकिक और तीन श्रोत कर्म है। लौकिक का अर्थ जीवन निर्वाह एवम संसार मे अपने अस्तित्व, रुचि, शिक्षा एवम ज्ञान के अनुसार व्यवसाय, व्यापार, समाज, देश एवम धर्म के अनुसार कर्म एवम जीवन की निरंतरता के लिये भोजन आदि और श्रोत कर्म यज्ञ, दान एवम तप। जब जीव को अपरा प्रकृति से लगाव हो जाता है तो उसे इस मे इंद्रियाओ द्वारा क्षणिक सुख मिलता है और वह अहम से अपने को कर्ता एवम भोक्ता मानता है। जब सब कुछ परमात्मा को समर्पित हो तो उस मे कर्ता या भोक्ता भाव नही होता। यह ठीक वैसा ही है जैसा नॉकरी करनेवाले को मालूम रहता है वो जो कुछ कर रहा है वो अपने मालिक के लिये कर रहा है, इसलिये उस मे कर्ता या भोक्ता भाव न हो कर कर्तव्य भाव ही रहता है।

हमे पहले भी कहा गया था कि कर्म पर तेरा अधिकार है और फल पर नही, न ही हमे कर्म का हेतु बनना है और न ही हमे कर्म का श्रेय लेना है। क्योंकि प्रत्येक दशा में कर्म के प्रति कोई भी कामना और आसक्ति बंधन का कारण होती है किंतु कर्म का फल तो कार्य - कारण के सिद्धांत से उत्पन्न होगा ही। प्रत्येक जीव कर्म विमुक्त भी नही हो सकता। इसलिए कर्म को सेवक भाव से परमात्मा का कार्य ही समझते हुए करना ही एक मात्र निष्काम कर्म का उपाय है।

भगवान श्री कृष्ण ने श्रद्धा एवम विश्वास के साथ पूर्ण समपर्ण की बात कही जिस में उन्होंने स्पष्ट किया कि परमात्मा प्रेम एवम भाव के भूखे है, धन, ऐष्वर्य और दिखावे के नही। फिर उन्होंने मन को उन में स्थिर करते हुए निष्काम कर्म करते हुए अपना प्रत्येक कर्म उन को अर्पण करने को कहा। अब यहां भगवान श्री कृष्ण सर्वस्व त्याग की बात कह रहे है। सर्वस्व त्याग का अर्थ है अपनी कामना, अपने अहम अर्थात भोगकत्व एवम कर्तृत्व भाव का त्याग।

जब आप ने अपने समस्त कर्म भगवान को अर्पित कर दिए और मन को परमात्मा की ओर स्थिर करना शुरू कर दिया तो यहां कर्ता परमात्मा ही होगा एवम भोक्ता भी परमात्मा ही होगा। अहम का कोई स्थान नहीं। जब मै और तू नही बस तू ही तू है तो वहां तो भोक्ता एवम कर्ता भी एक ही है। **परमात्मा से संयुक्त होना ही सन्यास है।**

जैसे सांख्ययोगी सम्पूर्ण कर्मों को मन से नवद्वारवाले शरीर में रखकर स्वयं सुखपूर्वक अपने स्वरूप में स्थित रहता है, ऐसे ही भक्त कर्मों के साथ अपने माने हुए सम्बन्ध को भगवान् में रख देता है। तात्पर्य यह हुआ कि जैसे कोई सज्जन अपनी धरोहर को कहीं रख देता है, ऐसे ही भक्त अपने सहित अनन्त जन्मों के संचित कर्मों को, उनके फलों को और उनके सम्बन्ध को भगवान् में रख देता है। इसलिये इस को **संन्यासयुक्त कर्मयोग** कहा गया है।

व्यवहार में यदि कोई संरक्षण प्राप्त हो, तो व्यक्ति की काम करने की क्षमता का विकास होता है। परमात्मा से बढ़ कर कोई संरक्षक नही हो सकता। मैं परमात्मा का हूँ और परमात्मा मेरे है, यही भाव ने मीरा को भक्तिमार्ग में अमर कर दिया। कठिन से कठिन कार्य भी व्यक्ति निर्भय हो कर पाता है।

कार्य- कारण के नियम से कोई भी कर्म का फल नही हो यह नही हो सकता। किन्तु जब श्रद्धा, प्रेम, विश्वास, स्मरण एवम समर्पण भाव से अपने समस्त कर्म, क्रियाए, कामनाएं, आसक्ति एवम अहम परमात्मा को अर्पित कर के यदि जीवात्मा सेवक भाव स्वीकार कर ले, तो परमात्मा का कहना है, इस प्रकार अर्पण करने से तू शुभ अशुभ कर्मफलों से मुक्त हो जायगा। शुभ अशुभ कर्म फलों से मुक्त होने पर तू मेरे को प्राप्त हो जायगा। तात्पर्य यह हुआ कि सम्पूर्ण कर्मफलों से मुक्त होना तो प्रेम प्राप्ति का साधन है और भगवान् की प्राप्ति होना प्रेम की प्राप्ति है।

भक्ति द्वारा ऊपर की ओर उठने की यह स्थिति आप को ज्ञान मार्ग से उठने की स्थिति तक ले जाती है अर्थात ज्ञान मार्ग जिसे हम पूर्व के अध्याय में पढ़ चुके है और अब श्रद्धा एवम विश्वास का यह भक्ति मार्ग आगे चल कर एक ही हो जाता है। जो गति ज्ञानी को प्राप्त होती है वो ही भक्त को प्राप्त होती है। राजा जनक कर्तृत्व अभिमान एवम कर्मफलासक्ति को त्याग कर दोनो कर्मो को सन्यास युक्त हो कर करते थे, इसलिये उन्हें भी जो मोक्ष ज्ञानयुक्त ब्रह्मसन्ध को प्राप्त था, वही ज्ञान सन्यासयुक्त कर्मयोग से प्राप्त हुआ। अर्जुन के प्रश्न में उसे युद्ध छोड़ कर सन्यास की भावना एवम ज्ञान एवम कर्मयोग में क्या श्रेष्ठ है, उत्तर में यही बताया गया कि ज्ञान या भक्ति किसी भी मार्ग में अपने कर्तव्यकर्म का त्याग करना उचित नहीं है।

किस प्रकार अर्पण की भावना से जीवन जीते हुए, मनुष्य परम पुरुषार्थ को प्राप्त कर सकता हैं जो कि निदिध्यासन और यज्ञ की भावना का निश्चित फल हैं। यह सर्वविदित तथ्य हैं कि जो कर्म का कर्ता होता हैं, वही कर्मफल का भोक्ता भी होता है। यदि सुख स्वर्ण की जंजीर है

तो दुख लोह की बेड़ी, किन्तु दोनों है तो बेड़ी ही। अत यदि हम कर्तृत्वाभिमान से कर्म करें, तो फलोपभोग के लिए भी हमें बाध्य होना पडेगा। इसलिए वेदान्त का सिद्धांत है कि निरहंकार भाव से कर्म किये जाने पर उनसे शुभ या अशुभ दोनों ही प्रकार की वासनाएं उत्पन्न नहीं होती।भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ कहते हैं, तुम शुभ अशुभ रूप कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाओगे। कारण यह है कि अहंकार के अभाव में साधक के किये नये कर्मो से वासनाओं में वृद्धि नहीं होती और साथ ही साथ पूर्व संचित वासनाओं का शनैशनै क्षय हो जाता है। संक्षेप में, उस साधक का चित्त अधिकाधिक शुद्ध होता जाता है शास्त्रीय भाषा में इसे चित्तशुद्धि कहते हैं। मन के शुद्ध होने पर उसकी एकाग्रता की शक्ति में वृद्धि हो जाती हैं।विकास की अगली सीढ़ी यह हैं कि इस चित्तशुद्धि के फलस्वरूप साधक की आत्मानात्मविवेक की सार्मथ्य में अभिवृद्धि होती है। फिर वह संन्यास और योग के जीवन का आचरण करता हुआ अपने सांसारिक, व्यवहारिक, व्यवसायिक, सामाजिक एवम दैनिक कर्म करता है।

व्यवहारिक जीवन मे दुख-सुख का मूल कारण राग, कामना, आसक्ति और अहम है। जो प्राप्त है, वही पर्याप्त है, किन्तु आशा के अनुकूल न होने से दुख, क्षोभ, क्रोध, निराशा जन्म लेती है और आशा से अधिक होने से लोभ और अहम जन्म लेता है। किन्तु जब समस्त कार्य परमात्मा को समर्पित कर के पूर्ण निष्ठा, ईमानदारी, लग्न, दक्षता और मेहनत से किया जाए, तो उस के कारण दुख उत्पन्न होता ही नही है। यही आनन्द मय जीवन की कुंजी है।

कुछ लोगो का मत है कि कर्म और भक्ति से मोक्ष नहीं मिल सकता, जब तक ज्ञान उत्पन्न न हो, इसलिए सन्यासी आत्मशुद्धि के पश्चात ज्ञान मार्ग की ओर अग्रसर होता है और यही निष्काम कर्म योगी और समर्पित भक्ति मार्ग में भी आवश्यक है। किंतु परमात्मा को समर्पित जीव का योगक्षेम परमात्मा वहन करता है तो वह ही उसे ज्ञान भी प्रदान करता है। अतः परमात्मा के अत्यंत करीब तक पहुंचने वाला ही अहम ब्रह्मास्मी अर्थात परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त करता है। यही फिर कर्म सन्यास ज्ञान योग है।

परमात्मा कभी अपनी रचना या प्राणियों में विभेद नही करता, किन्तु भक्त जब अपने को परमात्मा को अर्पित कर देता है, तो यह विभेद किस प्रकार का उत्पन्न होता है, आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 9.28।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.29॥
समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

"samo 'haṁ sarva-bhūteṣu,
na me dveṣyo 'sti na priyaḥ..।
ye bhajanti tu māṁ bhaktyā,
mayi te teṣu cāpy aham"..।।

भावार्थ:

मैं सभी प्राणीयों में समान रूप से स्थित हूँ, सृष्टि में न किसी से द्वेष रखता हूँ, और न ही कोई मेरा प्रिय है, परंतु जो मनुष्य शुद्ध भक्ति-भाव से मेरा स्मरण करता है, तब वह मुझमें स्थित रहता है और मैं भी निश्चित रूप से उसमें स्थित रहता हूँ। (२९)

Meaning:

I am the same to all beings, I do not hate nor to favour anyone. But those who worship me faithfully, they are in me, and I am in them.

Explanation:

Following the argument so far, one may have a doubt that Ishvara is somewhat partial to his devotees since he offers them liberation, not to others. Shri Krishna addresses this doubt by saying that he is absolutely impartial and that he does not hate or favour anyone. The difference in the result obtained is entirely up to the effort and qualification of the seeker.

Do what you like. God will settle our dispute. He is watching and will definitely punish you. You cannot escape." This sort of statement does not indicate that the person making it is a saint, possessing absolute faith in God, for even common persons believe that God is perfectly just.

Consider a mother who has to feed two sons. One is a wrestler, and one is an invalid. She will give a lot of heavy food to the wrestler, and easy to digest food to the invalid. She cannot be accused of favouring the wrestler

because she is giving food based on his efforts and his constitution. Or consider the sun who provides the same heat and light to everyone. If you build a solar power plant, you can generate electricity. If you don't, you will not be able to do so.

The rainwater falls equally upon the earth. Yet, the drop that falls on the cornfields gets converted into grain; the drop that falls on the desert bush gets converted into a thorn; the drop that falls in the gutter becomes dirty water; and the drop that falls in the oyster becomes a pearl. There is no partiality on the part of the rain, since it is equitable in bestowing its grace upon the land. The raindrops cannot be held responsible for this variation in results, which are a consequence of the nature of the recipient. Similarly, God states here that He is equally disposed toward all living beings, and yet, those who do not love Him are bereft of the benefits of His grace because their hearts are unsuitable vessels for receiving it.

Similarly, Ishvara is same and equal to everyone. In the Mahabharata, Shri Krishna gave Arjuna and Duryodhana. They could either use him or his powerful army for the war. Arjuna chose Shri Krishna and Duryodhana chose the army. It is the person who makes the right or wrong choice. We can either put a plug in the electrical socket or our finger. Electricity does not care, but the results will be different.

Now, if we truly devoted to our family for example, we do not see any barrier, difference, separation between our family and ourselves. Whatever do for them, it is as if we do it for us. Whatever they do for us, they do it as if they were doing it for themselves. Similarly, if we are truly devoted to Ishvara, we see him in us, and he sees us in him.

Here, the topic of sakaama and nishkaama is concluded (desire- oriented and desireless devotion). The topic of the glory of devotion is taken up next.

Footnotes:

1. Earlier Shri Krishna had said that Ishvara is not in anyone. This contradiction is resolved if we consider that each statement is made based on one's perspective. If we are a devotee, Ishvara is in us and we are in Ishvara. If we a materialistic, Ishvara is not in us.

।। हिंदी समीक्षा ।।

मनुष्य की दो बड़ी कमजोरी काम और राग पूर्व में बताई गई थी, जिस से जीव अपने को पहचान या देख नही पाता और अपने को प्रकृति मे कर्ता समझ कर दुख भोक्ता है। प्रत्येक जीव के ह्रदय में यहाँ तक कि जड़ पदार्थ में भी परमात्मा ही बसे हुए है। इसलिये परब्रह्म निर्लिप्त, अकर्ता, साक्षी और सृष्टि का रचयिता होने के बावजूद कुछ नही करता, जो हो रहा है वह उस की योगमाया एवम त्रियामी प्रकृति से होता है। वह सब जगह समान एवम समभाव से विद्यमान है।

जब अपरा एवम परा प्रकृति सब कुछ ही परमात्मा का अंश है तो कभी कभी या अक्सर कुछ मूर्ख लोग परमात्मा पर यह आरोप लगा देते है कि परमात्मा पक्षपात करते है। जो उन्हें पूजता है उस की सहायता करते है और बाकी का ध्यान नही देते। यह लोग भूल जाते है कि परमात्मा सम भाव है, उस के लिये सभी एक समान है, जो जीव कर्तृत्व भाव के कारण अहम में संसार या प्रकृति से संबंध जोड़ लेता है वो ही परमात्मा से पृथक हो जाता है। जीव कर्म-कारण के सिंद्धान्त के कारण ही तकलीफ पाता है। क्योंकि कर्म बंधनकारक है।

कुछ लोग जब तकलीफ से परेशान होते है तो विश्वास के साथ चेतावनी देते हुए कह ही देते है कि "भगवान के घर में देर है अंधेर नही।" " ऊपरवाले की अदालत में न्याय अवश्य होता है, क्योंकि वह सभी को देख रहा है" "किसी भी कार्य को कितना भी छुपा कर करो, वह भगवान से छुपाया नही जा सकता।" "वह रिश्वत खाता है, चोरी करता है, झूठ बोलकता है और मैं तेरी पूजा करता हूं, तो उसे सुख सुविधाएं है, मुझे दुख ही दुख, ऐसा मेरे साथ ही क्यों?" यद्यपि यह बाते करने वाला आत्मा से शुद्ध हो जरूरी नहीं, परंतु सांसारिक दुख उन्हे यह मानने को मजबूर कर देता है कि भगवान अन्याय नहीं होने देता और उस की नजर में प्रकृति के सुख और दुख के प्रति ही तुलनात्मक होती है, अध्यात्म की ओर नही। यदि मन में शांति और संतुष्टि है तो संसार में इस से बड़ा कोई सुख हो ही नही सकता।

देव, मनुष्य, पशु (तिर्यक) एवम स्थावर यानि जड़ एवम स्थिर जीव पेड़ पौधे इन चारों प्रकार के भूतों में परमात्मा समान रूप से स्थित है। जो कर्तृत्व भाव एवम भोक्तव भाव से मुक्त हो कर मेरे को समर्पित है उस की रक्षा की जिम्मेदारी परमात्मा स्वयं लेता है।

विहग जोनि आमिष अहारपर, गीध कौन व्रत धारी।जनक समान क्रिया ताकि निज कर सब भांति सँवारी।।

जटायु को गोद मे लेकर राम रोये, जटायु की धूलि को जटा से साफ किया, फिर पिता की भांति उनकी अन्तयेष्टि की। यही परमात्मा का प्रेम एवम भक्त की प्रति बंधन है। भीलनी के झूठे बेर, विदुरजी के यहां केले के छिलके या सुदामा के चावल केवल भक्ति और प्रेम से अभिभूत हो कर खाएं।

भक्ति एवम परमात्मा के प्रति श्रद्धा एवम विश्वास अव्यभिचारिणी होना चाहिये। यानि उस की भक्ति पतिव्रता स्त्री की भांति एक निष्ठ होनी चाहिए। कभी कोई देव तो कभी कोई देव ऐसा नही होना चाहिए।

वर्षा के पानी की एक बूंद सीप में जा कर मोती, गंदगी में जा कर दूषित, खेत में जा कर उपज का कारण और मरुस्थल में जा कर सूख जाती है। वर्षा इस में भेद नहीं करती, भेद समय, स्थान और कर्म से जुड़ा है। जीव के प्रकृति के गुण उस के लिए आगे का मार्ग प्रशस्त करते है। कर्म पर अधिकार में जीव अपने बुद्धि विवेक से ऊंचा उठता है। समस्त विपरीत परिस्थितियों में कर्ण सर्वश्रेष्ठ बना, अर्जुन और दुर्योधन में अर्जुन को सद्बुद्धि और दुर्योधन को कुमति मिली। इसलिए समय, स्थान, अभ्यास, संगत और परिस्थितियों से जीव का चरित्र निर्माण कैसा हो, यह जीव के अधिकार में है, परमात्मा इस में कुछ भी नही करता, उस की कृपा सूर्य की रश्मि की भांति सभी पर समान रूप में बरसती है। जीव ही निष्काम या सकाम भक्ति के मार्ग से उस के द्वार पर पहुंचता है।

शमा की परवानगी में पतंगा जल जाता है या कांटे में मांस लगा हो तो लालच में मछली फस जाती है। काम और वासना से ग्रसित बाबा जी द्वारा भोले लोगो को परमात्मा के दर्शन करवाने के नाम पर मूर्ख बनना या भव्य भागवद के नाम पर स्वांग रच कर नाच गाना एवम प्रसाद के नाम पर भोज करना व्यभिचारिणी भक्ति नही है। लौकिक और परालौकिक भक्ति और प्रेम में अंतर समझने के लिये भक्त को समझना होगा, साहित्य या सिनेमा में जो भक्ति का रस बहता है, वह कभी भी शबरी, राधा, विदुरानी, सुदामा के अंतर्मन के ह्रदय में बसी भक्ति को व्यक्त नही कर सकता। मैंने राधा-कृष्ण के अद्वितीय एवम सरल प्रेम

के नाम पर लोगो द्वारा अपने काम एवम वासना को शांत करने हेतु असमाजिक चित्र में प्रस्तुती देखी है। यह कोई परमात्मा के नाम की अव्यभिचारिणी भक्ति नही है। भक्ति राग-द्वेष, कामना, आसक्ति और अहम की पूर्ति के माध्यम नही है, अव्यभिचारिणी भक्ति हनुमान, मीरा, ध्रुव, प्रह्लाद, चैतन्य महाप्रभु आदि आदि के स्वरूप में पहचानी है।

आप ही अपना शत्रु और आप ही अपना मित्र है। तुकाराम जी कहते है कि इस से अधिक और कोई क्या नुकसान कर सकता है जब अपना नुकसान और बुरा हम खुद कर रहे हो। परमात्मा के पास कोई मोक्ष की गठरी नही की उठा कर किसी के सर पर रख दी। यहां तो इंद्रियाओ को जीतना और मन को निर्विषय करना ही मुख्य उपाय है।

माघ काव्य का यह वचन की खोटी समझ से जब एक बार मन ग्रस्त हो जाता है तो मनुष्य को अच्छी बाते भी ठीक नही जंचती।

जब सूर्य एक समान ताप एवम रोशनी देता है तो उस पर पक्षपात का आरोप लगाना गलत होगा। जब भक्त परमात्मा को समर्पित है तो उस का कर्म परमात्मा का है इसलिये परमात्मा ही उस का भार लेंगे।

युद्ध के पूर्व कृष्ण का अपमान करने के बावजूद भी जब दुर्योधन एवम अर्जुन कृष्ण के पास सहायता मांगने गए तो दुर्योधन ने सेना माँगी और अर्जुन में कृष्ण को। परमात्मा तो बिना भेद भाव के जो मांगोगे वही देगा, किन्तु यदि जीव में अहंकार एवम कर्ता भाव है तो उसे परमात्मा कैसे मिलेगा।

परमात्मा का कहना है मेरा कोई अप्रिय नही है, मै जीव का मेरे प्रति समर्पण देखता हूँ उस की जाति, रूप, आकार, धन दौलत, आदि मुझे प्रभावित नहीं करते, मै तो पत्र, पुष्प से ही संतुष्ट हूँ, मुझे हीरो या सोने का सिहांसन नही चाहिए। निषाद राज गुह, शबरी, गीध, कालिया नाग, रावण का भी विभीषण कोई भी जिस ने परमात्मा को भजा, उस के लिये परमात्मा खड़े हुये। परमात्मा को भजने वाला निष्काम कर्मयोगी होता है कोई कामचोर या आलसी नही, वो परमात्मा से कुछ नही चाहता, परमात्मा स्वयं ही उस की सहायता करते है। वो परमात्मा के लिये और परमात्मा का ही काम करता है, इसलिये अहम भाव एवम भोक्ता भाव रखने वाले परमात्मा पर पक्षपात का आरोप लगाते है।

प्रस्तुत श्लोक में गीता उन मनुष्यो के लिये मोक्ष का मार्ग दिखाती है जो ज्ञान योग की कठिन प्रक्रिया को नही कर सकते क्योंकि उन्हें वेद- शास्त्रो का ज्ञान एवम ज्ञान योग की

प्रक्रिया नही मिलती। यह जन सदाहरण के सरल उपाय है कि वह परमात्मा से अपने आप को अव्यभिचारिणी भक्ति से जोड़ ले। भक्ति मार्ग का यह स्वरूप कर्म त्याग को कभी भी नही स्वीकार करता, भक्ति के इस मार्ग में भी अपने सभी कर्तव्य कर्म को पूरा करना ही है। भगवान की शरण हमे कर्मफल एवम कर्मफलाशा से मुक्त करती है, जो मोक्ष के लिये मार्ग प्रशस्त करता है। जिस ने भी अपना अहम, कामना और आसक्ति त्याग कर परमात्मा को भजा, वह मानो परमात्मा में बस कर उन का प्रिय हो गया। इसलिये आगे हम पढ़ेंगे की यह सरल उपाय हर स्थिति, उम्र एवम पापी से पापी व्यक्ति के लिये किस प्रकार कारगार है।

।। हरि ॐ तत सत।। 9.29।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.30॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

"api cet su-durācāro
bhajate,
mām ananya-bhāk..।
sādhur eva sa mantavyaḥ,
samyag vyavasito hi saḥ"..।।

भावार्थ:

यदि कोई भी अत्यन्त दुराचारी मनुष्य अनन्य-भाव से मेरा निरन्तर स्मरण करता है, तो वह निश्चित रूप से साधु ही समझना चाहिये, क्योंकि वह सम्पूर्ण रूप से मेरी भक्ति में ही स्थित है। (३०)

Meaning:

Also, even if someone of extremely poor conduct worships me with wholehearted devotion, consider him a saint, for he has resolved very well.

Explanation:

Shri Krishna begins to explain the glory of bhakti or devotion with this shloka. He says that devotion is the easiest means of obtaining access to Ishvara. It is so easy that even a criminal, a sinner in the world can be considered a saint if he worships Ishvara with wholehearted devotion.

Why is bhakti so great as a means of accessing Ishvara? Bhakti has no prerequisites. It can be practiced by anyone at any stage in their life. There is financial, ancestral or intellectual requirement. Moreover, it is not alien to most of us. Many of us who grew up in the Indian tradition are already used to performing worship, even if it is for a minute in front of the deity in our living room. All we have to do is to expand this notion of worship to include everything we do.

Here, Shri Krishna says that if there is an individual that has extremely bad conduct, if he is the worst among sinners, if he starts worshipping Ishvara with single pointed devotion, this resolve is enough to uplift him to the status of a saint. The word “ananyabhaak” is very important in this shloka. It means that this person has shifted his attention from all worldly pursuits including name, fame, money and power. His only goal is Ishvara.

So, this person may not look like a saint outwardly, but he should be considered a saint, just like one who has checked into a flight is considered to have already reached the destination, even if it will take some more time. Such a saint has begun to shift his identification or sense of “I-ness” from his body to the infinite Ishvara. But his resolve or his commitment to this path is most important. He should be “samyak vyavasitaha” which means well determined and be able to absolutely understand as to what the right thing for him is.

In the scriptures, the classical examples of this are Ajamil and Valmiki, whose stories are commonly sung in all Indian languages. Valmiki’s impious deeds were so overbearing that he was unable even to enunciate “Ra..ma,”

the two syllables in Lord Ram's name. His sins were preventing him from taking the divine Name. So, his Guru thought of a way of engaging him in devotion by making him chant the reverse, "Ma Ra," with the intention that repetition of "Mara Mara Mara Mara…" will automatically create the sound of "Rama Rama Rama…" As a result, even such a fallen soul as Valmiki was reformed by the process of ananya bhakti (exclusive devotion) and transformed into a legendary saint.

If this resolve is so important, how does one go about it? How long does it take? We shall see this next.

।। हिंदी समीक्षा ।।

परमात्मा ने पहले भी कहा है वो समभाव है इसलिये यदि कोई दुराचारी व्यक्ति भी अपने दुराचारों का त्याग कर के यह दृढ़ निश्चय कर के की परमात्मा पतित पावन, सब के सहृदय, सर्वशक्तिमान, परमदयालु, सर्वज्ञ, सब के स्वामी और सर्वोत्तम है एवम उन के भजन अर्थात स्मरण में लग जाता है तो वो भी साधु समान है। क्योंकि परमात्मा के स्मरण से उस की आत्मा निरंतर शुद्ध होती जाएगी और उस की परमात्मा से निकटता भी बढ़ जाएगी।

जिस चित में परमात्मा के प्रति अखंड अनुराग उत्पन्न हो जाये, जो अपने मन एवम बुद्धि की सारी क्रियाये एक निष्ठ को परमात्मा के आधीन कर दे वो कर्मातीत हो जाता है। यह कहने की आवश्यकता नही होनी चाहिये जब भक्ति मार्ग या भागवत धर्म का ब्रह्म स्वयम परमात्मा ही है, इस लिये जो भी कर्म कृष्णअर्पण बुद्धि से होगा, उस से ही जीव का कल्याण होगा।

पूर्व में ज्ञान योग में भी कहा गया था कि प्रभु को प्राप्त करने के कोई बाधा नहीं, जिस क्षण से परमात्मा को प्राप्त करने के लिये जीव निष्काम भाव से ज्ञानयुक्त होना शुरू कर देता है उसी क्षण से वो परमात्मा के निकट आना भी शुरू कर देता है। **यहां भक्ति योग में इसे और अधिक सरल बताया गया है क्योंकि भक्ति योग कर्म सन्यास योग और ज्ञान योग से भी सरल है। निष्काम भाव दोनों में निहित है, कर्म भी दोनों में निहित। किन्तु ज्ञान योग में एक कठिन अभ्यास की आवश्यकता एवम व्यवस्था है और कर्मयोग में निष्काम भाव की, जब कि भक्ति योग में कोई भी, कभी भी , कहीं भी, कैसे भी अपना कर्म करते हुए परमात्मा का कीर्तन या भजन करे। उसे इतना ही भान रहे कि जो कुछ हो रहा है वो**

परमात्मा की करता है, वो ही प्राप्त करता है, वो ही देता है, वो ही भोक्ता है वो ही कर्ता है। जीव तो निमित मात्र है।

जिस की बुद्धि समभाव हो जाये, वो ही श्रेष्ठ है। फिर वो पहले दुराचारी ही क्यों न हो, किसी मनुष्य की योग्यता उस के अन्तःकरण की शुद्धता पर अवलंबित होती है। इसलिये बुद्ध ने निःसंकोच आम्रपाली नामक वेश्या को दीक्षा दी। इसलिये परमात्मा ने भी पूर्व में कहा कि अंत समय मे भी मुझे स्मरण करता है, मै उसे भी मुक्ति देता हूँ किन्तु अंत समय मे स्मरण हो जाये, इसलिये जीवन मे निरंतर स्मरण रहना चाहिए। यहाँ यह बात भी गौण के स्मरण से पूर्व का जीवन किस प्रकार का रहा होगा।

तुलसीदास जी ने लिखा है " उलटा नाम जपत जग जाना । वाल्मीकि भये ब्रह्म समाना ।।" "समूचा संसार इस तथ्य का साक्षी है कि भगवान के नाम को उलटे क्रम में उच्चारण करने वाले वाल्मीकि सिद्ध संत कहलाएँ।" आदि कवि बाल्मीकि के बारे में सभी जानते है कि वो इतना दुराचारी था कि राम नाम तक नही ले सकता था और उस ने भजन मरा मरा कर के शुरू किया और महान साधु बन कर रामायण की रचना कर दी। अंगुलिमाल और न जाने कितने दुराचारी अपने दुराचार को त्याग कर परमात्मा के भजन को लगे और साधु कहलाये। इसलिए पापियों को अनन्त काल तक नरकवास नहीं दिया जाता। भक्ति की परिणत शक्ति के संबंध में श्रीकृष्ण उद्घोषणा करते हैं कि यदि महापापी लोग भी भगवान की अनन्य भक्ति करना प्रारम्भ करते हैं तब फिर वे कभी पापी नहीं कहलाते। वे शुद्ध संकल्प धारण कर लेते हैं और इसलिए वे अपनी उदार आध्यात्मिक अभिलाषा के कारण धर्मात्मा बन जाते हैं।

मै कर्तृत्व- भोक्तृत्व से रहित नित्य- शुद्ध- बुद्ध स्वरूप हूँ इस मे जब भी किसी ने अपने आत्मस्वरूप में ययार्थ निश्चय किया और मेरे को भजना शुरू किया, वो निश्चय ही मुझे प्राप्त होगा चाहे वो कितना भी दुराचारी, किसी भी वर्ण, जाति, रूप में हो। वो साधु ही है क्योंकि उस का साधु होना अब निश्चित हो गया है।

गीता का यह श्लोक वर्तमान में जो भी स्थिति में जीव का अंतर्मन से स्वीकार किया हुआ चरित्र है, वही मान कर उस को स्वीकार करना चाहिये। किसी व्यक्ति का भूतकाल उस का व्यक्तित्व नही होता, उस को उस के वर्तमान काल के चरित्र और व्यवहार से ही पहचानना चाहिए। अनन्य भक्ति का अर्थ छल-कपट, लोभ-स्वार्थ, कामना- आसक्ति एवम अहम को त्याग कर जिस ने परमात्मा की शरण ह्रदय से ली है, वह साधु ही है। समाज मे पारिवारिक

प्रतिष्ठा या नैतिकता को आधार मान कर कोई गलत काम करे तो वह दुराचारी है। किंतु जो सुधरना चाहे, कितना भी बड़ा अपराधी क्यों न हो, परमात्मा की अनन्य भक्ति से वह साधु अर्थात सज्जन ही कहलायेगा। परमात्मा सभी के लिये समान रूप से कृपा करता है, यही इस श्लोक से प्रमाणित होता है। परमात्मा प्रेम का भूखा है, व्यक्ति कैसा भी रहा हो, जो भी करता हो, जिस समय अनन्य भक्ति भाव से भगवान को स्मरण करना शुरू कर देता है, उसी समय से उस के पूर्व के कर्मफल क्षीण होने लगते है। ज्ञान या ध्यान योग में इस प्रकार के व्यक्ति उस की कठिन साधना के कारण नही जा सकते तो यह सरल भक्ति मार्ग भी सामाजिक चेतना एवम सुधार का क्रांतिकारी उपाय व्यास जी ने गीता के माध्यम से दिया है।

व्यवहार में स्वामी दयानंद जी के कथन को याद करे कि हर व्यक्ति अपने आप में ज्ञानी है, उस की अंतर्चेतना उस को अच्छे और बुरे कर्म के लिए कचोटती रहती है। अच्छा और बुरा क्या है, उसे सिखाना नही पड़ता, जो उसे अपने साथ व्यवहार में पसंद नही वही बुरा है, इसलिए बेईमान व्यक्ति भी ईमानदार सेवक को तलाशता है। अतः जिस क्षण हम सुधारने का ठान ले, ईश्वर की भक्ति शुरू हो जाती है। इस के कोई उम्र या प्रक्रिया भी नही। समर्पण, प्रेम, श्रद्धा और विश्वास चाहिए। फिर भक्ति आर्त हो, अर्थार्थी हो, जिज्ञासु हो या ज्ञानी, एकरूप हो, बहुरूप हो या निरूप हो कोई फर्क नहीं पड़ता। उस को याद करते करते जीव की भक्ति शनैः शनैः अनन्य भक्ति में परिवर्तित होती जाती है। जीव को परमात्मा का योगक्षेम प्राप्त होता है, जिस से वह ज्ञानी हो जाता है। कालीदास हो या बाल्मिकी जी, जिस ने भक्ति की, प्रभु की कृपा उस पर बरसी।

बचपन से हमे भी यही भक्ति सिखाई गई, मंदिर जाओ, धोक खाओ, साधु संतों का आदर करो, बुरे कर्मो से बचो, जो भी चाहिए, परमात्मा से मांग लो, भक्ति सकाम हो या निष्काम। अंत: वह अनन्य भक्ति के रूप में परिवर्तित हो ही जाएगी, चाहे यात्रा कितने भी जन्मों की हो।

स्वामी दयानंद जी कहते है कि कोई किसी को ज्ञान या समझा नही सकता, जब तक वह स्वयं से इस के लिए तैयार न हो। गीता जैसे ग्रंथ का अध्ययन कितने भी लोग करे, जब तक वह स्वयं से समझने को तैयार न हो, कौन पढ़ा सकता है। किंतु जिस ने इसे पढ़ने के मन बनाया, उस के रास्ते भी ईश्वर बनाना शुरू कर देता है। अतः भक्ति के कोई गुणवत्ता, उम्र, स्थान, समय की आवश्यकता नहीं। जिस ने भी इस को शुरू करने का विचार किया,

उस के ईश्वर सभी रास्ते खोलता जाता है। यह टर्निंग प्वाइंट या परिवर्तन का समय ही व्यक्ति को अपने हृदय से तय करना है।

पुन:श्च - अर्जुन ने प्रश्न किया था कि कर्म योग और सन्यास योग में जो श्रेष्ठ मार्ग है, बताए। सन्यास योग या कर्मयोग के मार्ग में सन्यास योग कठिन होने से कर्मयोग का मार्ग श्रेष्ठ कहा गया। किंतु मार्ग कोई भी हो, श्रेष्ठ गुण विन्रमता, प्रेम, श्रद्धा और विश्वास के बिना अपूर्ण और निरर्थक है। क्योंकि इन के अभाव में दोनों गुणों में अहंकार, क्रोध, राग - द्वेष के मुक्ति नही मिलती। इसलिए दुर्योधन और द्रोणाचार्य दोनो ही कर्मयोगी थे किंतु दोनों ही अहंकार, राग और मोह, लोभ से मुक्त नही थे। इसलिए भगवान ने मध्यम सरल मार्ग कर्मयोगी के लिए स्मरण और समर्पण का बताया जिसे से जीव श्रद्धा, प्रेम और विश्वास से संशय रहित हो कर परमात्मा की शरण में जाकर अपने कर्तव्य कर्म को अहंकार, क्रोध, मोह, ममता, लोभ और राग - द्वेष के बिना योगी की भांति कर सके। यह मार्ग सेवक और स्वामी या भक्त और भगवान का भक्ति मार्ग है। जिस क्षण जीव को यह समझ आ जाए कि वह जो कर रहा है, वह गलत और प्रकृति के नियम के विरुद्ध हैं उसी क्षण जीव का प्रकाश की ओर मार्ग प्रशस्त हो जाता है। इसलिए जब तक अहंकार से युक्त मन और बुद्धि है तो जीव कितनी भी पुस्तके पढ़े, भजन कीर्तन करे, प्रवचन सुने, उस का कल्याण नही हो सकता। यही हम उदाहरण में धृतराष्ट्र द्वारा संजय से गीता सुनने पर प्रत्यक्ष देख भी रहे है।

परमात्मा को भजने वाले दुराचारी एवम सभी भक्तों के लिये भगवान और क्या कहते है, यह हम आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 9.30।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.31॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

"kṣipraṁ bhavati dharmātmā,
śaśvac-chāntiṁ nigacchati..।
kaunteya pratijānīhi,
na me bhaktaḥ praṇaśyati"..।।

भावार्थ:

हे अर्जुन! वह शीघ्र ही मन से शुद्ध होकर धर्म का आचरण करता हुआ चिर स्थायी परम शान्ति को प्राप्त होता है, इसलिये तू निश्चिन्त होकर घोषित कर दे कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता है। (३१)

Meaning:

He becomes virtuous instantly and attains eternal peace. O Kaunteya, declare that my devotee never perishes.

Explanation:

Earlier we saw that the resolve towards devotion is most important. Shri Krishna further adds to that statement by saying that one who makes such a resolve attains eternal bliss and peace. He also urges Arjuna to make such a resolve towards devotion.

Shree Krishna explains that if they continue the process of exclusive devotion with unflinching faith in God, their hearts will become purified and they will swiftly develop saintly virtues. Divine virtues emanate from God Himself. He is perfectly just, truthful, compassionate, loving, merciful, etc. Since we souls are his tiny parts, we are all naturally drawn to these godly qualities. But the process of becoming virtuous remains an elusive mystery.

Many commentators explain the word “kshipram” by snapping their fingers. In other words, the amount of time it takes to snap your fingers is how long it takes to make a commitment, to make a resolve towards devotion of Ishvara. When this happens, Ishvara ensures that such a person becomes virtuous and attains everlasting happiness and peace.

As long as we harbour desires for worldly objects, we will never experience long- lasting happiness. But by performing actions in the worship of Ishvara, our notion of doership and enjoyership is destroyed because we are acting

as agents of Ishvara. When doership and enjoyership is removed, desires are automatically eliminated, resulting in everlasting peace and bliss.

Now, there could be a situation where we work in the spirit of worship for a while, but fall back into our old desire- prompted actions again. Shri Krishna says that as long as we have made a commitment to devotion, Ishvara will ensure that we do not fall, we do not perish. However, Shri Krishna is specific in his statement that the resolve has to come from the devotee, not from Ishvara. Ishvara may break a promise that he has made himself, but he will always stand by a resolve that is made by his devotee.

Krishna asks "Arjuna take my promise, and not only you should take this promise from Me, you have to declare, publicise this promise through all the media; radio, TV, internet media; (now you have to include all the media), all over the world you publicise this promise of mine. A devotee of the Lord will never have a spiritual fall; very careful; he will never have a spiritual fall; material ups and downs are bound to come; through prārabhda; But he will never fall spiritually; only higher and higher and higher; therefore, this is my promise and therefore become My devotee."

So therefore, a person who has the tendency to commit wrongdoing can also become a devotee. What other types of people can become devotees? We shall see next.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व के श्लोक एवम अध्ययन को ही आगे बढ़ाते हुए भगवान श्री कृष्ण कहते है जिस ने भी एक बार मेरी भक्ति का मार्ग दृढ़ निश्चय के साथ पकड़ लिया तो समझो कि उस की परमगति होना निश्चित है। यह संस्कार इस जन्म में नही तो अगले जन्म में किन्तु परम धर्म परमात्मा से संयुक्त होने वाला परम गति को प्राप्त होता ही है। क्योंकि साक्षी नित्य एवम निर्मल होता है इसलिये कदाचित देहादि के शुभ अशुभ विकारों से लेपायमान नही हो सकता।

ज्ञान योग में श्रोत एवम स्मार्त में केवल उन को ही अध्ययन एवम योगी बनने की आज्ञा है जो निश्चित नियमो का पालन करते है, अल्प बुद्धि या मंद बुद्धि एवम ब्रह्मचर्य पूर्वक जीवन व्यतीत न करने वाले श्रोत एवम स्मार्त का पठन एवम श्रवण नहीं कर सकते है। किन्तु भक्ति मार्ग सभी के लिये खुला है। परमात्मा को भजने का अधिकार चाहे कितना भी दुराचारी, वेश्या या अल्प बुद्धि को, सभी को समान रूप से है। **भक्ति योग सब से सरल है किंतु सच्चा भक्त होना सब से कठिन, क्योंकि भक्त किसे कहते है यह हम अध्याय 12 में विस्तार से पढ़ेंगे।**

जीवन के प्रति मोह और भय उस के नष्ट होने का रहता है क्योंकि जीव मृत्यु का अर्थ इस देह से प्राण निकलने को ही मानता है किंतु देह तो परिवर्तन शील है, जीव पुराने वस्त्र की भांति देह त्याग कर नए वस्त्र धारण करता है, उस की मृत्यु होती ही नही है। अनन्य भक्त ही यह बात को समझ पाता है। ज्ञान मार्ग से दुराचारी को मुक्ति की संभावना काफी कम रहती है, परंतु भक्ति मार्ग से जब कोई दुराचारी भी भजन आदि में लग जाता है तो शनैः शनैः उस के तामसी एवम रजोगुण नष्ट हो कर सात्विक गुणों का प्रभाव बढ़ जाता है। इसलिये वह धर्मात्मा और पूजनीय भी हो जाता है।

यह एक सिद्धान्त है कि कर्ता के बदलने पर क्रियाएँ अपने आप बदल जाती हैं, जैसे कोई धर्मरूपी क्रिया कर के धर्मात्मा होना चाहता है, तो उसे धर्मात्मा होने में देरी लगेगी। परन्तु अगर वह कर्ता को ही बदल ले अर्थात् मैं धर्मात्मा हूँ ऐसे अपनी अहंता को ही बदल ले, तो वह बहुत जल्दी धर्मात्मा बन जायगा। ऐसे ही दुराचारी से दुराचारी भी मैं भगवान् का हूँ और भगवान् मेरे हैं ऐसे अपनी अहंता को बदल देता है, तो वह बुहत जल्दी धर्मात्मा हो जाता है।

धर्मात्मा होने से अर्थात् भगवान् के साथ अनन्यभाव से सम्बन्ध होने से वह शाश्वती शान्ति प्राप्त हो जाती है। केवल संसार के साथ सम्बन्ध मानने से ही उसका अनुभव नहीं हो रहा था।

आगे भगवान अर्जुन को निर्भीक होकर यह घोषणा करने को कहते हैं कि उनके भक्त का कभी पतन नहीं होता। वह यह नहीं कहते कि 'ज्ञानी का पतन नहीं होता और न ही वह यह कहते हैं कि कर्मी (कर्मकाण्ड का पालन करने वाला) का पतन नहीं होता, वे केवल अपने भक्तों को वचन देते हैं कि उनका कभी विनाश नहीं होता।' इस प्रकार वे पुनः वही दोहराते हैं जो उन्होंने इस अध्याय के बाइसवें श्लोक में कहा है कि वे उन पर आश्रित और उनकी अनन्य भक्ति में लीन भक्तों की रक्षा का दायित्व अपने ऊपर लेते हैं। यह भी एक पहेली

प्रतीत होती है कि श्रीकृष्ण यह घोषणा स्वयं करने के स्थान पर अर्जुन को यह घोषणा करने के लिए क्यों कहते हैं? इसका कारण यह है कि विशेष परिस्थितियों में भगवान को कई बार अपना वचन भंग करना पड़ता है किन्तु वह यह नहीं चाहते कि उनका भक्त कभी विवश होकर अपना वचन भंग करे।उदाहरणार्थ श्रीकृष्ण ने यह संकल्प लिया था कि वे महाभारत के युद्ध के दौरान शस्त्र नहीं उठाएँगे किन्तु जब भीष्म पितामह जिन्हें उनका परम भक्त माना जाता है, ने यह संकल्प लिया कि आजु जौ हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ। तौ लाजौं गङ्गाजननी कों शान्तनु सुत न कहाऊँ। वह अगले दिन सूर्य अस्त होने तक अर्जुन का वध करेंगे या फिर श्रीकृष्ण को उस की रक्षा हेतु शस्त्र उठाने के लिए विवश कर देंगे।तो उस समय भगवान् की प्रतिज्ञा तो टूट जायगी, पर भक्त (भीष्मजी) की प्रतिज्ञा नहीं टूटेगी। श्रीकृष्ण ने भीष्म की प्रतिज्ञा की रक्षा हेतु अपने वचन को भंग कर दिया।

भगवान् ने चौथे अध्याय के तीसरे श्लोक में भक्तोऽसि मे सखा चेति कहकर अर्जुन को अपना भक्त स्वीकार किया है। अतः भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि भैया तू प्रतिज्ञा कर ले। कारण कि तेरे द्वारा प्रतिज्ञा करने पर अगर मैं खुद भी तेरी प्रतिज्ञा तोड़ना चाहूँगा, तो भी तोड़ नहीं सकूँगा, फिर और तोड़ेगा ही कौन तात्पर्य हुआ कि अगर भक्त प्रतिज्ञा करे, तो उस प्रतिज्ञा के विरुद्ध मेरी प्रतिज्ञा भी नहीं चलेगी। मेरे भक्त का विनाश अर्थात् पतन नहीं होता यह कहने का तात्पर्य है कि जब वह सर्वथा मेरे सम्मुख हो गया है, तो अब उस के पतन की किञ्चिन्मात्र भी सम्भावना नहीं रही। पतन का कारण तो शरीर के साथ अपना सम्बन्ध मान लेना ही था। उस माने हुए सम्बन्धसे सर्वथा विमुख होकर जब वह अनन्यभाव से मेरे ही सम्मुख हो गया, तो अब उसके पतन की सम्भावना हो ही कैसे सकती है दुराचारी भी जब भक्त हो सकता है, तो फिर भक्त होने के बाद वह पुनः दुराचारी भी हो सकता है, ऐसा न्याय कहता है। इस न्याय को दूर करने के लिये भगवान् कहते हैं कि यह न्याय यहाँ नहीं लगता। मेरे यहाँ तो दुराचारी से दुराचारी भी भक्त बन सकते हैं, पर भक्त होने के बाद उन का फिर पतन नहीं हो सकता अर्थात् वे फिर दुराचारी नहीं बन सकते। इस प्रकार भगवान् के न्याय में भी दया भरी हुई है। अतः भगवान् न्यायकारी और दयालु दोनों ही सिद्ध होते हैं।

जब एक दुराचारी पुरुष अपने दृढ़ निश्चय से प्रेरित होकर अनन्यभक्ति का आश्रय लेता है, तब वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है। मुख्य तथ्य दृढ़ निश्चय का है। यदि उसका निश्चय दृढ़ और प्रयत्न निष्ठापूर्वक है तो वह असफल नहीं होता है।

कुल की शुद्धता, कुलीनता, ज्ञान का मिथ्या अभिमान, रूप लावण्य और तारुण्य पर इतराना और संपत्ति पर गर्व करना व्यर्थ है, जबतक पमात्मा की भक्ति की रसधारा इन सब मे न हो। वही इस मे स्थायी है, उसी का प्रकाश इन सब को आकर्षित बनाता है। सूखा सरोवर, वीरान शहर और बिना अनाज की बाली किसी भी काम की नही होती।

एक पिक्चर बनी थी "गाइड" जिस में नायक देवानंद को जुवारी और गलत आचरण के कारण नायिका द्वारा उसे घर से निकाल दिया जाता है और फिर एक गांव में उस को महात्मा समझ कर विश्वास करने से लोग पूज्य बना देते है। उन का विश्वास कायम रहे, वह गलत आचरण का नायक भी ईश्वर के आश्रित हो कर अपने प्राणों का त्याग कर देता है और ईश्वर भक्त की प्रतिज्ञा को पूर्ण करते है। इसलिए श्रद्धा, विश्वास, प्रेम के साथ स्मरण और समर्पण में इतनी शक्ति होती है कि उस के भरोसे व्यक्ति असंभव को भी संभव बना सके। उस में पूर्णतय आत्मविश्वास जगा सके। अर्जुन प्रथम अध्याय में मोह और भय से आत्मविश्वास खो चुके थे। गीता उसी क्रम से आगे बढ़ रही है, जिस में सर्वप्रथम अर्जुन के मोह को और अहम भाव के अज्ञान को स्पष्ट किया गया।

अर्जुन के विषाद में उसे युद्ध मे हारने का भय था, उसे मृत्यु का अर्थ शरीर का नष्ट होना ही समझता था। अतः परमात्मा ने अर्जुन से यह सार्वजनिक घोषणा प्रतिज्ञाबद्ध एवम पूर्ण विश्वास के साथ करने को कहा कि जो उसे अनन्य भाव से पूजता है, वह नष्ट नही होता। जब व्यक्ति निराश हो तो उस मे आत्मविश्वास एवम जोश जगाने के लिये एवम खोए हुए विश्वास को पुनः प्राप्त करने के लिये, कुशल वक्ता द्वारा दिया हुआ यह निर्देश अत्यंत प्रभावशाली होता है, क्योंकि निराश व्यक्ति निर्णय ले कर कार्य कर सकने की क्षमता में नही होता। उस के पीछे संभालने को जब कोई खड़ा हो यह कह दे कि तू निश्चय हो कर कर्म कर, मैं हूँ ना, तो ही समर्थ व्यक्ति का आत्मविश्वास बढ़ जाता है। वह कार्य करने की अपने बल पर क्षमता भी रखता है, फिर किसी सबल का सर पर हाथ हो तो कार्य करने का उत्साह दुगना हो जाता है।

तेजस्वी प्रवक्ता के आत्मविश्वास सहित कहे हुए शब्दों से, निराश अर्जुन समझ जाएं कि जिसे वह कर्तृत्व एवम भोक्तत्व भाव के कारण अहम में स्वयं को जो मान रहा है, वह उस का अज्ञान है। भक्ति से अज्ञान के बादल छट जाते है और भक्त समझ जाता है कि वह नित्य, साक्षी और अकर्ता हो कर परब्रह्म का ही अंश है।

ज्ञान योग की अपेक्षा भक्ति का यह सरलतम उपाय दुराचारियो एवम वेदशास्त्रों का ज्ञान या अध्ययन आदि न कर सकने वालो में किस प्रकार उपयोगी है, आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 9.31।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.32॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्यु पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

"māṁ hi pārtha vyapāśritya,
ye 'pi syuḥ pāpa-yonayaḥ..।
striyo vaiśyās tathā śūdrās,
te 'pi yānti parāṁ gatim"..।।

भावार्थ:

हे पृथापुत्र! स्त्री, वैश्य, शूद्र अन्य किसी भी निम्न-योनि में उत्पन्न होने वाले मनुष्य हों, वह भी मेरी शरण-ग्रहण करके मेरे परम-धाम को ही प्राप्त होते हैं। (३२)

Meaning:

Surely, O Paartha, even those who are born of sinful origin - women, traders, and also labourers, they attain the supreme state by taking refuge in me.

Explanation:

This is another milestone shloka that has the potential to be misinterpreted if it is quoted out of context. Here, Shree Krishna states that irrespective of birth, gender, caste, or race, whoever takes complete shelter of Him will attain the supreme goal. Such is the greatness of the path of devotion that everyone is eligible for it, whereas in other paths there are strict criteria for eligibility.

For the path of jñāna- yog, Jagadguru Shankaracharya states the eligibility: “Only those who possess the four qualifications—discrimination, detachment, disciplined mind and senses, and a deep yearning for liberation—are eligible for practicing the path of jñāna- yog."

In the path of karm kāṇḍ (Vedic rituals), there are six conditions to be met: “Six criteria must be fulfilled for the fruition of ritualistic activities—the proper place, the correct time, the exact procedure and correct enunciation of mantras, utilization of pure materials, a qualified Brahmin who performs the yajña, and staunch faith in its efficacy.”

In the path of aṣhṭāṅg- yog as well, there are strict regulations: “Perform haṭha- yog in a pure place, while seated immovably in the proper asan.”

In contrast, bhakti-yog is such that it can be done by anyone, at any time, place, and circumstance, and with any material.

Shri Krishna also says that women, traders and labourers are born out of “paapa yoni” which literally means “sinful wombs”. He says that women, traders and labourers are also equally qualified to become liberated through the path of devotion. So, to properly understand the meaning, let us look at the historical context and the symbolism that underpins this shloka.

As we have seen so far, the Gita attempts to remove misconceptions about spirituality that were prevalent when it came out. One prevalent misconception that was present throughout history was that only the brahmin and the kshatriya communities were solely qualified for liberation. Any other community was termed as “sinful”. Therefore, Shri Krishna vehemently refutes this misconception using the language that was prevalent at that time.

Now let’s look at the symbolism by focusing on the attributes of the communities mentioned, not by focusing on their birth- given caste or

gender. A “sinful origin” or “sinful womb” per this shloka symbolically refers to a low level of sattva guna, and a high level of rajas and tamas which causes such attachment to worldly matters.

How does that manifest in people? All are not concern with physical body or class of Verna, but it relates to quality of typical kind of people. The quality of being too attached to children and family is termed as “women” in this shloka. Similarly, a “trader” is too attached to money and commerce, and a “labourer” is too attached to the fruits of his own efforts. Unlike other types of spiritual practice that require a high level of detachment, bhakti or devotion does not require such a qualification.Therefore, Shri Krishna praises the path of devotion because anyone who has such deep attachments to worldly matters can attain liberation through devotion.

So, when even those with a material attachment can attain liberation through devotion, how do people with a high level of detachment fare? This is covered next.

।। हिंदी समीक्षा ।।

निष्काम कर्म से कर्म के कर्तृत्त्व एवम भोक्तत्व भाव से मुक्त होने के साथ ज्ञान युक्त होना एवम गुरु के मार्गदर्शन में तत्वविद होना ही ज्ञानयोग है यह हम में पढ़ा। ज्ञान मार्ग केवल बुद्धिगम्य होने के कारण अल्प बुद्धि वाले सामान्य जनों के लिये क्लेशमय है और भक्ति मार्ग के श्रद्धा मूलक, प्रेमगमय तथा प्रत्यक्ष होने के कारण उस का आचरण करना सब लोगो के लिये सुगम है। ज्ञान मार्ग के उपनिषदों या वेदान्त सूत्रों में श्रोत-यज्ञ-याग आदि की अथवा कर्म- सन्यास - पूर्वक 'नेति ' स्वरूपी परब्रह्म की चर्चा ही भरी पड़ी है अतः इस का अध्ययन का अधिकार भी ऐसा माना जाने लगा कि यह अधिकार प्रथम तीन वर्णों को ही है। यद्यपि यह भी सत्य नही हो सकता क्योंकि यह ज्ञान अन्य को वर्जित था तो गार्गी प्रभृति स्त्रियों एवम विदुर प्रभृति शूद्रों को कैसे था।

जगद्गुरु शंकराचार्य ने ज्ञानयोग के मार्ग का अनुसरण की पात्रता का वर्णन इस प्रकार से किया है

विवेकिनो विरक्तस्य शमादिगुण शालिनः। मुकुक्षौरैव हि ब्रह्मजिज्ञासायोग्यता मताः।।

"केवल वे लोग जो विवेक, विरक्ति, संयमित मन और इन्द्रियाँ तथा मुक्ति की तीव्र उत्कंठा के इन चार गुणों से सम्पन्न होते हैं। केवल उन्हीं लोगों को ज्ञान योग का अनुसरण करने का अधिकारी माना जाता है।" वैदिक कर्मकाण्डों में इस की पात्रता के लिए छः मापदण्डों का उल्लेख किया गया है। वैदिक कर्मकाण्डों के अनुपालन के लिए निम्नांकित छः मापदण्डों का पालन करना आवश्यक हैः

देशे काले उपायेन द्रव्यं श्रद्धा समन्वितम्। पात्रे प्रदीयते यत्तत् सकलं धर्म लक्ष्णम्।।

"उपयुक्त स्थान, उपयुक्त समय, उपयुक्त प्रक्रिया और मंत्रों का शुद्ध उच्चारण, शुद्ध सामग्री का प्रयोग, यज्ञ करने वाले ब्राह्मण की योग्यता और उसकी दक्षता में पक्का विश्वास होना।"

इसी प्रकार से अष्टांग योग के मार्ग के लिए भी कड़े नियम निर्धारित किए गए हैं।

शचौ देशे प्रतिष्ठाप्य (श्रीमद्भागवतम्-3.28.8)

"हठ योग के अभ्यास हेतु शुद्ध स्थान पर उपयुक्त आसन में स्थिर बैठना आवश्यक है।"

इन सब की अपेक्षा भक्ति योग ही एक ऐसा योग है जिसका पालन किसी समय, स्थान, परिस्थितियों और किसी भी सामग्री के साथ किया जा सकता है।

न देश नियमस्तस्मिन् न काल नियमस्तथा।। (पद्मपुराण)

इस श्लोक में वर्णन है कि भगवान भक्ति करने वाले स्थान के संबंध में कोई चिंता नहीं करते। वे केवल हृदय का प्रेम भाव देखते हैं। सभी जीव भगवान की संतान हैं। भगवान अपनी दोनों भुजाओं को फैलाए सभी को स्वीकार करना चाहते हैं यदि हम विशुद्ध प्रेम के साथ उनकी ओर अग्रसर होते हैं।

हम इस विवाद में नही पड़ते हुए यह माने की ज्ञान योग सभी के बोधगम्य नही है तो जो जीव पाप योनि को भुक्त रहा है या जो स्त्रिया इस ज्ञान से वंचित है या व्यापार- व्यवसाय कर के अपना एवम समाज का पालन करने वाले शुद्र लोग या नामधारी ब्राह्मण वर्ग, वैश्य की मुक्ति किस प्रकार हो। समाज का एक वर्ग जो दैनिक सांसारिक जिम्मेदारियों में व्यस्त रहता है एवम जिन के कानो में वेदों की श्रुति नही पहुंचती, उन का मोक्ष कैसे हो। यहां

स्त्रियां का अर्थात भावनात्मक सांसारिक बंधन में मोह युक्त जीव से है। जीव के सांसारिक शरीर और आत्मिक शरीर में अंतर उस के आचरण, भावना, बुद्धि और संस्कार का होता है। इसी प्रकार वैश्य का अर्थ जिस की बुद्धि व्यवसायिक हो और शुद्र का अर्थ जिस की बुद्धि तामसी हो। पाप योनि में हम अन्य सभी जीवों को ले सकते है जो आर्थिक, भावनात्मक, शारीरिक, ज्ञान या बुद्धि, वातावरण या जलवायु आदि से अपंग या असमर्थ हो। यह लोग अपनी ही कमियों से कष्ट को भोगते है, इसलिए यह पाप योनि को भुगतते है।

वादरायणाचार्य कहते है " विशेषनुग्रहश्च" अर्थात परमेश्वर का विशेष अनुग्रह ही उन के लिये एक साधन है। क्योंकि भक्ति समय, स्थान, कर्मकांड आदि कुछ नही देखती।

कर्म प्रधान ज्ञान योग या कर्म प्रधान भक्ति योग, हम ने पड़ा है कि दोनों आगे चल कर जब जीव अहम एवम कामना से मुक्त हो कर परमेश्वर को समर्पित हो जाता है, दोनों मिल ही जाता है। अतः विशेषनुग्रह के साधन के स्वरूप में दुराचारियो, स्त्रियों, पापियों, शूद्रों एवम नामधारी ब्राह्मण, तुच्छ जीव आदि के लिये कर्म प्रधान भक्ति मार्ग का निरूपण किया गया है।

भगवान श्री कृष्ण कहते है कि हे पार्थ जो कोई पापयोनिवाले हैं अर्थात् जिन के जन्म का कारण पाप है ऐसे प्राणी हैं, वे कौन हैं सो कहते हैं, वे स्त्री, वैश्य और शूद्र भी मेरी शरण में आकर मुझे ही अपना अवलम्बन बनाकर परम उत्तम गति को ही पाते हैं। यहाँ पापयोनि शब्द ऐसा व्यापक है, जिसमें असुर, राक्षस, पशु, पक्षी आदि सभी लिये जा सकते हैं।

ऐसी भी कथाएं है कि वनपवारन्तर्गत ब्राह्मण- व्याध संवाद में मांस बेचने वाले व्याध ने किसी ब्राह्मण को, शांति पर्व में तुलाधार अर्थात बनिये ने जाजलि नामक ब्राह्मण को यह निरूपण सुनाया था कि स्वधर्म के अनुसार निष्काम बुद्धि से आचारण करने से ही मोक्ष कैसे मिल सकता है अतः यह स्पष्ट है जिस की बुद्धि सम हो जावे वही श्रेष्ठ है फिर चाहे वह सुनार हो, बढई हो , बनिया हो या कसाई किसी भी मनुष्य की योग्यता उस के धंधे पर, व्यवसाय पर, या जाति, लिंग या वर्ण पर अवलंबित नही, किन्तु सर्वथा उस के अन्तःकरण की शुद्धता पर अवलंबित होती है और यही भगवान श्री कृष्ण का अभिप्रायः है।

देव तो भाव का भूखा है न प्रतीक का, न काले गोरे का, न ही स्त्री- पुरुष का, न ही ब्राह्मण - चांडाल आदि किसी का। वो सब मे समान रूप से है अतः उस के पास कोई भेद नही, देव तो सम भाव है। मनुष्य या जीव कैसा भी दुराचारी, पापी या किसी भी जाति, लिंग या वर्ण का हो, जिस ने अनन्य भाव से परमात्मा की भक्ति की, उस को परमगति प्राप्त हुई।

।। हरि ॐ तत सत।। 9.32।।

।। पापयोनि, वर्ण व्यवस्था, वेद और सनातन संस्कृति।। विशेष - गीता 9.32 ।।

Now why Krishna enumerates striyāḥ; vaiśyāḥ; śudrāḥ? The first thing we should understand: Vedanta is primarily a pursuit of wisdom and wisdom is something which is connected with your mind and intellect only; it is connected with the sūkṣma śarīram, it has nothing to do with the physical body. Physical body is not going to gain knowledge. Therefore whenever we are talking about qualifications or disqualification, we are not bothered about the physical personality; because physical personality has nothing to do with knowledge.

That is why in Tatva Bodha, when we talked about qualification, we did not talk about height, we did not talk about weight, we did not male or female gender; it was only said sādanā catuṣṭaya sampathi and all the qualifications are connected with what is the subtle body or the mind. Therefore when we talk about striyāḥ; vaiśyāḥ; and śudrāḥ; we should remember, it has nothing to do with the physical stritvam; physical vaiśyatvam; or physical śudratvam; it is talking about three types of inner personality; we are not talking about whether a person is physically women or physically man. Then we have to find out what type of personality is meant by stri? What type of personality is meant by vaisya? And what type of personality is meant by śudra?

I will use the word svabhāva stritvam; svabhāva vaiśyatvam; and svabhāva śudratvam; not śarīra stritvam; śarīra vaiśyatvam and śarīra śudratvam. We are not bothered about the physical gender. Now what is the svabhāva stritvam? It refers to an overwhelming emotional personality, which obstructs the rational thinking; a personality in whom emotions dominates over reason; manōmaya kōśa dominates over vijñānamaya kōśa; because according to

śāstra, vijñānamaya kōśa or rational thinking, should have control over over emotion. If emotions are going to control over reason, that person is an emotional person. And such an emotional personality will have lot of problem with Vedantic knowledge.

What is primary problem? An emotional personality always values personal relationships and attachment. It wants to be personally associated with someone, and personally someone should love me; there must be someone whom I can tell: I love you; and someone should regularly tell me: I love you; this need of emotional prop is very important; whereas in Vēdānta, we talk about growing out of saṅga or relationship; because we want to come to this knowledge that aham asaṅgam brahmāsi; asaṅgōham; asaṅgōham; asaṅgōham puna punaḥ;

Then vaiśyāḥ; if you remember the fourth chapter analysis, we have defined vaiśyā svabhāva as a rājasic mind; an outgoing mind; which wants to earn, which wants to acquire; which wants to accomplish, which is a commercial mind. So even if it comes to religion, even if you come to Rishikesh; you will be interested in rudrākṣa vyāpāram and conclude that there is a good profit there; it is everywhere profit only; the commercial mind; that is vaiśyā mind; it has nothing to do with jāti or birth; even a mahā Brāhmaṇā by birth; if he is commercial minded, he will come under guṇa vaiśyāḥ. Here we are not talking about jāti vaiśyāḥ; we are talking about guṇa vaiśyāḥ; so guṇa stri over; guṇa vaiśyāḥ over.

Then what is the third one; śudrāḥ: śudrāḥ, we saw in the fourth chapter, as tamō guṇa pradhānaḥ. So one who is given to indolence, laziness; and animalistic living; who has got one philosophy; as we say in Hindi; kao, pio, maja karo; eat drink and be merry. So tamasic mind; very close to animals; so, such a mind again guṇa udrāḥ.

Even those people who have got certain disadvantages or handicaps, even those people can take to bhakthi and attain liberation. So disadvantaged people also can take to bhakthi and attain liberation. By disadvantage we mean, any type of handicap; physical handicap or emotional handicap, or intellectual handicap; (nothing is understood Swamiji, if you say, it is intellectual handicap) or, environmental handicap or parental handicap; a person born to a parent who is a nāsthika, atheist. Or imagine even a Prahlada who is born to a Hiraṇyakaśipu; an asurā, who never has devotion. In fact, he says: never say Nārayana Nāmāḥ; Hiraṇyakaśipave nāmāḥ only you should say: With this nāsthikya disadvantage also, a person through devotion can attain liberation.

स्त्री, वैश्य, शुद्र अन्य किसी भी निम्न योनि में उत्पन्न शब्दों को आज की सामाजिक चेतना में इसे जातीय रंग दिया जा सकता है। वेदान्त में वर्ण व्यवस्था कर्म, प्राकृतिक गुणों एवम ज्ञान पर आधारित थी, जिसे कालांतर में जन्म पर आधारित माना जाने लगा। सात्विक गुण वाले ब्रह्म के ज्ञान के अधिकारी माने गए। जब तक शुद्ध, निर्लिप्त, निद्वन्द, समभाव चित्त नही, ब्रह्म का ज्ञान नही हो सकता है। वेद का शब्द ज्ञान या अक्षर ज्ञान किसी व्यक्ति को ब्राह्मण नही बना सकता। इसलिये चाहे गीता, रामायण या भागवद किसी को कितनी भी कंठस्थ क्यों न हो, वह ब्रह्मसन्ध नही हो सकता, जब तक उपरोक्त गुण न हो। वेदांत ग्रंथ में गीता जड़ शरीर की अपेक्षा चेतना और आध्यात्मिक शक्ति को किसी भी जीव के विकास का आधार मानती है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के विचारो को हम उन की रचना "बाणभट्ट की आत्मकथा" से यही समझ सकते है कि स्त्री या पुरुष कोई भी शरीर पिंड से नहीं समझा जाना चाहिए। शारीरिक पिंड स्त्री का हो या पुरुष का, प्रत्येक पिंड में पुरुषोचित और स्त्रीयेंण गुण न्यून और अधिक मात्रा में रहते हो है। जीव पुरुष होते हुए भी मानसिकता से स्त्री के गुण मोह, ममता, भावुक और लज्जा युक्त अधिक मात्रा में हो सकता है, वही स्त्री पुरुष प्रधान गुण साहस या अग्रणी आदि गुण से युक्त हो सकती है। पिंड से चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो या शुद्र, वास्तविक उस का आचरण, मन, बुद्धि या संस्कार ही अध्यात्म और मुक्ति के विषय अध्ययन के लिए है। जन्म से ब्राह्मण जाति के होते हुए भी जो व्यापार और लोगो को हानि पहुंचाने में विश्वास रखते है, वे तमोगुण प्रधान शुद्र ही है।

जब की लोगो की सेवा करने वाले रैदास जैसे लोग ब्राह्मण कहलाते है। आज के युग में रामद्रोही शुद्र ही है जो जन्म से किसी भी वर्ण के हो। अतः प्रकृति के राजसी और तामसी गुणों से जो अधिक जुड़ा है वही स्त्री, वैश्य या शुद्र है, फिर चाहे किसी भी कुल या जाति में पैदा हो या किसी भी पिंड स्वरूप में हो।

भावनात्मक एवम मन के अनुसार विचरने वाले व्यक्ति स्त्री के गुण रखता है, धन की कामना एवम आसक्ति में ग्रसित वैश्य और तामसी गुण - अर्थात निंद्रा, आलस्य, मौज-मस्ती में रहनेवाला शुद्र। यहाँ विचारणीय यही है कि क्षत्रिय को उच्च योनि माना गया है क्योंकि वह समाज की रक्षा एवम व्यवस्था का भार उठाता है, इस के लिये वह अपने प्राणों की भी परवाह नही करता।

अतः जिन्हें ब्रह्म ज्ञान न हो, उन के मोक्ष के द्वार बंद नही होने चाहिए, पर्याप्त बुद्धि एवम ज्ञान के अभाव में उन का जीवन जन्म-मरण से मुक्त होने का कोई उपाय तो अवश्य होना चाहिये। यदि कोई पाप योनि में अपने पूर्व कर्मो से या वर्तमान में गलत संगत या अज्ञान अर्थात लोभ, लालसा आदि किसी भी कारण से चला जाये तो भी गीता के माध्यम से भगवान उस को भक्तिमार्ग द्वारा मोक्ष का द्वार खोल देते है।

अतः स्त्री, वैश्य और शूद्र के शाब्दिक अर्थो से कोई व्यर्थ की बहस करता है, तो उस से उलझना बेकार है, उस की बुद्धि एवम विवेक दूषित हो कर वह पाप योनि में ही अहम के साथ विचरित हो रहा है। जिसे मोक्ष चाहिए उसे अनुसूय बन कर पूर्ण श्रद्धा, विश्वास, प्रेम और समर्पण के साथ परमात्मा को ह्रदय से स्मरण करना चाहिये।

गीता में यह श्लोक एक क्रांतिकारी श्लोक है कि जब प्रत्येक जीव परमात्मा का ही अंश है तो मोक्ष का अधिकारी क्यों नही। परमात्मा की उपलब्धि सब के लिये सरल और जीव के गुण धर्म के अनुसार होनी चाहिए। भक्तिमार्ग के द्वारा कर्म करते हुए प्रत्येक जीवात्मा किसी भी निचले स्तर पर हो, परमात्मा को सिर्फ और सिर्फ प्रेम से उसे भजने वाला भक्त चाहिए जो उस पर श्रद्धा, विश्वास और समर्पित भाव रखता हो और कर्म उसे अर्पित करते हुए करता हो, वह सभी को किसी भी योनि में हो, उसे मोक्ष प्रदान करने को तैयार है।

।। हरि ॐ तत सत ।। विशेष 9.32 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.33॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

"kiṁ punar brāhmaṇāḥ puṇyā,
bhaktā rājarṣayas tathā..।
anityam asukhaṁ lokam,
imaṁ prāpya bhajasva mām"..।।

भावार्थ:

तो फिर पुण्यात्मा ब्राह्मणों, भक्तों और राजर्षि क्षत्रियों का तो कहना ही क्या है, इसलिए तू क्षण में नष्ट होने वाले दुख से भरे हुए इस जीवन में निरंतर मेरा ही स्मरण कर। (३३)

Meaning:

What (to speak) again of pious brahmins and royal sages? Having obtained this impermanent world, which is devoid of happiness, you should worship me.

Explanation:

Shri Krishna concludes the topic of the glory of devotion by asserting that everyone, including brahmins or sages who have renounced the world, as well as “raajarshis” or sages who have become kings. Having described the glory of devotion, he then instructs Arjuna to worship Ishvara.

In describing the glory of devotion, Shri Krishna highlighted three types of people. The worst kind of person is a sinner, who has such a high level of attachment to the material world that he is ready to harm others. A better type of person is a sinner who has a lower level of attachment to the material world such as a businessperson. Better than that person is someone like a sage who has the lowest level of attachment, which means that highest level of detachment or vairagya. It does not matter which kind of person wants to become a devotee. Everyone is eligible.

When even the most abominable sinners are assured of success on the path of bhakti, then why should more qualified souls have any doubt? Shree Krishna thus beckons Arjun, “A saintly king like you should become situated in the knowledge that the world is temporary and a place of misery. Engage yourself in steadfast devotion to Me, the possessor of unlimited eternal happiness. Else the blessing of birth in a kingly and saintly family, good education, and favorable material circumstances will all be wasted, if they are not utilized in the pursuit of the supreme goal.”

Shri Krishna also explains the reason for seeking the path of devotion. He says that the world in which we live in has two main defects. It is anityam or impermanent, and it is asukham or devoid of joy. We usually rush into worldly pursuits such as money, positions, wealth, fame, titles and so on. None of those are permanent or will give long- lasting happiness. We sometimes think that others who possess these things are happier than we are, but that is not true. Impermanence and sorrow is the nature of this world.

Therefore, Shri Krishna urges us to follow a single pursuit. How do we do it? He explains this in the next and concluding shloka in this chapter.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व के श्लोक को ही आगे बढ़ाते हुए भगवान श्री कृष्ण कहते कि शांति, आर्जव, अनुभव, उपलब्धि, ध्यान एवम इष्ट के निर्देशन पर कर्म करने वाले ब्राह्मण एवम ऋद्धियों-सिद्धियों का संचार, शौर्य, स्वामिभाव, कभी पीछे नही हटने का स्वभाव रखने वाले राजऋषि क्षत्रिय अपने गुण एवम कर्म से श्रेष्ठ होते है, वो भी भक्ति करते है तो वो और भी श्रेष्ठ होना चाहिए। इसलिये अर्जुन जो स्वभाव से क्षत्रिय एवम राजऋषि भाव का है, उस को भगवान कर्म करते हुए परमात्मा को भजने के लिये कहते है जिस से उस का आत्मविस्वास, चिंता एवम भय का नाश हो।

भक्तिमार्ग द्वारा मोक्ष ज्ञान योग से प्राप्त मार्ग से किसी भी प्रकार् से कम नही है, यह भक्ति मार्ग सिर्फ अर्थार्थी, आप्त या जिज्ञासु भक्तों या निम्न या पाप योनि के लिये सीमित नही है। ज्ञानयोगी एवम कर्मयोगी दोनो के लिये सोने में सुहागा जैसा है।

छांदोग्योपनिषद में वर्णित कथा में स्वेतकेतु के पिता ने यह सिद्ध करने के लिये कि अव्यक्त और सूक्ष्म परब्रह्म ही सब दृश्य जगत का मूल कारण है, श्वेतकेतु से कहा कि बरगद का एक फल ले कर आओ और देखो उस के भीतर क्या है। श्वेतकेतु ने वैसा ही किया, उस ने फल को तोड़ कर देखा और कहा इस मे छोटे छोटे बीज और दाने है। पिता ने कहा, अब एक बीज को लो और उसे तोड़ कर देखो। श्वेतकेतु ने बीज को तोड़ कर देखा और कहा कि इस मे कुछ नही है। तब उस के पिता बोले, जिस में तुम्हे कुछ नही दिखता, वह इस विशाल बरगद के पेड़ का कारक है। ब्रह्म सारी सृष्टि का मूल तत्व अनादि, अनन्त, सर्वकर्तृ, सर्वज्ञ, स्वतंत्र और चैतन्यरूप है, इसको यथाशक्ति बुद्धिरूपी ज्ञान से समझना चाहिये किन्तु निश्चयात्मक ज्ञान से ब्रह्म निर्गुण जानने के बाद श्रद्धा, प्रेम, वात्सल्य, दया, कर्तव्य एवम विश्वास से ही इस ज्ञान का हृदय में प्रवेश होना संभव है, जिस से देहेन्द्रिय एवम आचरण से ब्रह्मात्मैक्य की स्थिति प्राप्त की जा सकती है। संसार मे जो भावना, अपनापन, श्रद्धा, विश्वास, स्त्री को माँ के स्वरूप में देखने मे मिलता है, वह ज्ञान द्वारा कतई प्राप्त नही किया जा सकता।

अध्याय चार में ज्ञान योग के लिए कर्म की व्याख्या करते हुए चार वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवम शुद्र बताए गए। यह वर्णन निष्काम कर्म योग सन्यास पर आधारित था। किंतु भक्ति मार्ग ज्ञान योग की तरह विशिष्ट पद्धिति पर न होने से अनन्य स्मरण एवम समर्पण पर आधारित एवम सुगम्य है इसलिये यहां वर्ण व्यवस्था को सात भागो में विभाजित किया गया। इस मे दुराचारी, पापयोनि, स्त्री, वैश्य, शुद्र, राजऋषि क्षत्रिय एवम तत्वविद ब्राह्मण में विभाजित किया गया। तत्वविद ब्राह्मण नामधारी ब्राह्णण से पृथक उस के ज्ञान योग के कारण रखा गया है। भक्ति योग में यह विभाजन ज्ञान एवम कर्म सन्यास पर आधारित न हो कर श्रद्धा, विश्वास एवम प्रेम के कर्म, स्मरण एवम समर्पण पर आधारित है। वर्ण या जाति व्यवस्था का गीता में कही पर भी जन्म से कोई ताल्लुक नही है। गीता में गुणकर्म के अनुसार जाति का विभाजन है।

गीता कर्म प्रधान होने के कारण भक्ति मार्ग में भी कर्म को प्रधानता है अतएव भक्ति का अर्थ यह नही हो सकता कि स्मरण एवम समर्पण के लिए जीव अपने कर्तव्य को भूल कर

तंबूरा ले कर घूमना शुरू कर दे। जितने भी संत महात्मा भक्ति मार्ग के हुए, उन का समाज के उत्थान में अत्यंत योगदान उन के द्वारा किये हुए कर्मो का ही फल है।

कक्षा में परीक्षा में पास होने के लिए शिक्षक का सारा ध्यान उन छात्रों पर अधिक रहेगा जो पढ़ाई में कमजोर है। इसलिए वे उन्हें अतिरिक्त समय के अभ्यास और पढ़ने के तरीके बता कर आश्वत करते है कि यदि वे छात्र उस नियम से कार्य अर्थात मेहनत करे तो अवश्य पास हो जाएंगे। यदि फिर मेघावी या औसत छात्रों की बात हो कि यदि वे भी उन्ही नियमो से यदि पढ़ाई करें तो क्या होगा। इस प्रश्न का उत्तर निश्चित ही होगा कि जब कमजोर छात्र जिस विधि से पास होने को अधिक जोर लगाएगा, तो मेघावी या औसत छात्र तो थोड़ा सा ही प्रयास करेगा तो उस की जीत भी निश्चित ही है क्योंकि मन और बुद्धि की तीव्रता, याद रखने और प्रस्तुत करने की क्षमता तो वह पूर्व जन्मों के प्रयास से पहले से ही प्राप्त कर चुका है। इसलिए उसे भी कठिन मार्ग से कर्म की अपेक्षा यदि सरल मार्ग उपलब्ध है तो ज्ञानी को सरल ही मार्ग अपना कर अपनी जीत को सुनिश्चित कर लेना चाहिए।

अतः अर्जुन को भगवान कहते है कि तुम तो राजऋषि क्षत्रिय हो, जब दुराचारी, पापयोनि सभी का मै समभाव से उद्धार करता हूँ, तो तुम तो श्रेष्ठ जीवो में हो अतः अपने कर्तव्य का पालन करो और मुझे भजते रहो। इस से तुम्हारी समस्त चिंताओं के निवारण मेरे द्वारा हो जाएगा।

इस प्रकार गीता में उपनिषदों के ब्रह्मात्मेक्य जैसे महान ज्ञान को जिसे हम श्रद्धा, दृढ़ विश्वास और प्रेम के साथ परमात्मा का स्मरण एवम समर्पण कह सकते है, वह आबाल वृद्ध, दुराचारी, पापयोनि, स्त्री, वैश्य, नामधारी ब्राह्मण, शुद्र, क्षत्रिय एवम ब्राह्मण सभी को उपलब्ध कर दिया गया। गीता में भगवान के समभाव का विवेचन करते हुए भक्ति मार्ग एवम ज्ञान मार्ग का समन्वय कर दिया गया है। इस से पूर्व भी हम ने गीता में कर्मयोग एवम ज्ञान योग में भी समवय पढा था। इसलिये गीता समाज मे वैमस्य, ऊंच नीच, वाद विवाद को मिटाते हुए समस्त मान्यताओ के परम तत्व को हम किस प्रकार प्राप्त करे, लिखी गई है।

ज्ञान, ध्यान, कर्म एवम भक्ति सभी मार्ग अपने मे पूर्ण होते हुए भी एकमेव भाव से गुथे है, जीव अपनी मन एवम बुद्धि द्वारा जब तक परमात्मा को हृदय की गहराइयों तक नही धारण नही करता, तब तक उस का प्रकृति से सम्बन्ध कर्तृत्व एवम भोक्तत्व भाव से जुड़ा ही रहता है। भगवान प्रेम का भूखा है, उसे कोई आडम्बर नही चाहिये, जो भी उसे हृदय से

स्मरण करता है, वह उसी का हो जाता है। किंतु जब ज्ञानी भी भक्त की भांति उसे पूजता है, तो यह सब से उत्तम दोहरा मुक्ति का मार्ग है।

आगे भक्तिमार्ग को कर्म से युक्त करते हुए, भगवान अर्जुन को क्या कहते है, पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 9.33।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 9.34॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायण: ॥

"man-manā bhava mad-bhakto,
mad-yājī māṁ namaskuru..।
mām evaiṣyasi yuktvaivam,
ātmānaṁ mat-parāyaṇaḥ"..।।

भावार्थ:

हे अर्जुन! तू मुझ में ही मन को स्थिर कर, मेरा ही भक्त बन, मेरी ही पूजा कर और मुझे ही प्रणाम कर, इस प्रकार अपने मन को मुझ परमात्मा में पूर्ण रूप से स्थिर कर के मेरी शरण होकर तू निश्चित रूप से मुझे ही प्राप्त होगा। (३४)

Meaning:

keep your mind in me, become my devotee, perform actions for me, surrender to me. In this manner, engage yourself in me. By making me your goal, you will attain only me.

Explanation:

Shri Krishna concludes the ninth chapter with a “take home message”. He gives us specific, tangible and practical instructions to bring the teachings of this chapter into our life. Having declared that this world is impermanent and devoid of joy, he wants us to follow a new way of life that orients us towards Ishvara and away from the world.

Let's look at the most important instruction first. Shri Krishna wants us to make Ishvara as our sole goal in life. How does this work in practice? If for instance, we are ready to go to college, it should be in line with our svadharma so that we get skilled in performing our work. If we want to get married, it should be with the intention of serving our family and our parents. Any time we serve someone else, we are serving Ishvara.

Namaskuru (the act of humble obeisance) effectively neutralizes vestiges of egotism that may arise in the performance of devotion. Thus, free from pride, with the heart immersed in devotion, one should dedicate all one's thoughts and actions to the Supreme. Shree Krishna assures Arjun that such complete communion with Him through bhakti- yog will definitely result in the attainment of God- realization; of this, there should be no doubt.

Now once this goal is set, everything else falls into place. Shri Krishna wants us to keep on contemplating Ishvara and perform all our actions for Ishvara. The more we do this, the more will our ego get subdued, and this is how we will convert ourselves into a true devotee. We may encounter people and situations that are unpleasant, disagreeable and not to our liking. Even in the midst of this we should bow down and surrender to Ishvara, knowing that it is our past actions that are manifesting as unpleasant but temporary situations.

So thus what are the five conditions to be a bhaktha?:

1. Develop devotion to Me.

2. Make Me as your ultimate goal.

3. Do not lose sight of Me as the goal.

4. Convert every moment of your life into a purificatory exercise; and

5. Always surrender to the Lord and do everything with Lord's blessings.

What is the end result? If we are ever engaged with Ishvara throughout our lives, if we make Ishvara our goal and refuge, we will certainly attain him. This attainment is explained in the sixth chapter as “Yo maam pashyati sarvatra sarvam cha mayi pashyati”. We will not view the world as different from us. We will see Ishvara in all, and all in Ishavara.

।। हिंदी समीक्षा ।।

अपने हृदय की बात वहीं कही जाती है, जहाँ सुनने वाले में कहने वाले के प्रति दोष दृष्टि न हो, प्रत्युत आदरभाव हो। अर्जुन दोषदृष्टि से रहित हैं, इसलिये भगवान् ने उन को अनसूयवे कहा है। इसी कारण भगवान् यहाँ अर्जुन के सामने अपने हृदय की गोपनीय बात कह रहे हैं।

तू मन्मना, मुझ में ही मनवाला हो। मद्भक्त, मेरा ही भक्त हो। मद्याजी, मेरा ही पूजन करनेवाला हो और मुझे ही नमस्कार किया कर। इस प्रकार चित्त को मुझमें लगाकर मेरे परायण शरण हुआ तू मुझ,परमेश्वर को ही प्राप्त हो जायगा। अभिप्राय यह कि मैं ही सब भूतों का आत्मा और परमगति परम स्थान हूँ, ऐसा जो मैं आत्मरूप हूँ उसी को तू प्राप्त हो जायगा। इस प्रकार पहले के माम् शब्द से आत्मानम् शब्द का सम्बन्ध है।

किसी को अपनी शरण मे आने का आव्हान तभी कर सकते है, जब जिसे आप कह रहे वह आप पर अत्यंत विश्वास रखता हो। अन्यथा लोग अन्य अर्थ में ले लेंगे। भगवान श्री कृष्ण ही परब्रह्म का व्यक्त स्वरूप है, यह भेद उसी के समक्ष खोला जा सकता है, जिस का उन पर पूर्ण विश्वास हो। इसलिये यह गुह्यतम ज्ञान है। यह श्लोक धृष्टराष्ट्र ने भी संजय के माध्यम से सुना किन्तु कृष्ण के प्रति उस की भावना समर्पण की नही होने से, उस के लिये यह कथन गुमराह करने वाला अति आत्मविश्वास से भरा लगा।

हम कह सकते हैं कि यह श्लोक अनेक श्लोकों की व्याख्या का कार्य करता है। वेदान्त के प्रकरण ग्रन्थों में आत्मविकास एवं आत्मसाक्षात्कार के लिए सम्यक् ज्ञान और ध्यान का उपदेश दिया गया है। ध्यान के स्वरूप की परिभाषा इस प्रकार दी गई है कि उस (सत्य) का ही चिन्तन, उसके विषय में ही कथन, परस्पर उसकी चर्चा करके मन का तत्पर या तत्स्वरूप बन जाने को ही, ज्ञानी पुरुष ब्रह्माभ्यास समझते हैं। ब्रह्माभ्यास की यह परिभाषा ध्यान में रखकर ही महर्षि व्यास इस श्लोक में दृढ़तापूर्वक अपने सुन्दर भक्तिमार्ग का चित्रण करते

हैं। यही विचार इसी अध्याय में एक से अधिक अवसरों पर व्यक्त किया गया है। सब काल में किसी भी कार्य में व्यस्त रहते हुए भी मन को मुझमें स्थिर करके, मेरा भक्त मेरा पूजन करता है और मुझे नमस्कार करता है। संक्षेपत, जीवन में आध्यात्मिक सुधार के लिए मन का विकास एक मूलभूत आवश्यकता है। यदि वास्तव में हम आध्यात्मिक विकास करना चाहें तो बाह्य दशा या परिस्थिति, हमारी आदतें, हमारा भूतकालीन या वर्तमान जीवन कोई भी बाधक नहीं हो सकता है। प्रयत्नपूर्वक ईश्वर स्मरण या आत्मचिन्तन ही सफलता का रहस्य है। इस प्रकार जब तुम मुझे परम लक्ष्य समझोगे तब तुम मुझे प्राप्त होओगे, यह श्रीकृष्ण का अर्जुन को आश्वासन है। वर्तमान में हम जो कुछ हैं, वह हमारे संस्कारों के कारण है। शुभ और दैवी संस्कारों के होने पर हम उन्हीं के अनुरूप बन जाते हैं।

गीता परमात्मा द्वारा दिया ज्ञान है इसलिये मेरी शरण मे आने का आवाहन परमात्मा की शरण को प्राप्त करना ही है जो जीव का मुख्य मोक्ष प्राप्ति का लक्ष्य है।

यह वाक्य कभी मनुष्य भी गुरु के लिये उपयोग करता है किंतु गुरु की शरण भी तभी जाना चाहिए जब गुरु अहम से मुक्त योग -तत्वविद- ब्रह्मसिद्ध हो क्योंकि गुरु ही परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग बताता है। अंध श्रद्धा या अंध विश्वास को हम पहले ही पढ़ चुके है।

गीता में पूर्व में ज्ञान-ध्यान योग से ब्रह्मसन्ध होने का मार्ग बताया गया था, किन्तु यह मार्ग उन के लिये ही उचित था, जिन को वेद-शास्त्रो का ज्ञान मिला हो एवम जिस ने योग अभ्यास एवम ध्यान के कठिन अभ्यास से इन्द्रिय-मन-बुद्धि को नियंत्रित कर लिया हो। इस मार्ग में सफलता लाखो में किसी एक को मिलती है क्योंकि इस मे जीव ब्रह्म के स्वरूप को एवम स्वयं को ब्रह्मस्वरुप के वास्तविक रूप में पहचानने का प्रयास स्वयं करता है।

अतः जो निम्न योनि में जन्म लेते है, जिन्हें वेद शास्त्रो का ज्ञान नही मिला हो, उन के लिये मार्ग यही है कि वह श्रद्धा, विश्वास, प्रेम और समर्पण के साथ परमात्मा को स्मरण करें और परमात्मा के प्रति अपने को समर्पित कर दे। फिर जिसे वेद-शास्त्रो का ज्ञान मिला हो, जिस ने योग और साधना द्वारा अपने इन्द्रिय-मन और बुद्धि को नियंत्रित कर लिया हो, वह इस मार्ग से परमात्मा को समर्पित हो जाये तो उस का मोक्ष निश्चित है। अतः यह कथन भी अर्जुन इसी कारण कहा गया।

परमात्मा की भक्ति सब से सरल है, जब कोई राम का नाम भी लेता है तो एक आत्मिक चेतना का संचार होना शुरू हो जाता है। इसलिए नाम जपने से ही भक्ति शुरू हो जाए, इस

से सरल कोई उपाय जन साधारण के लिए हो ही नहीं सकती। भक्त की पहचान और भक्ति की पराकाष्ठा के भक्त के लिए पांच बाते कही गई है।

1) भगवान् का भक्त बनने से, भगवान् के साथ अपनापन करने से, मैं भगवान् का हूँ इस प्रकार अहंता को बदल देने से मनुष्य में बहुत जल्दी परिवर्तन हो जाता है। इसे मदभक्त होना कहा गया है।

2) वह परिवर्तन यह होगा कि वह भगवान् में मनवाला हो जायगा, भगवान् का पूजन करनेवाला बन जायगा और भगवान् के मात्र विधान में प्रसन्न रहेगा। इस प्रकार भगवान ही उस अंतिम ध्येय हो जाता है। यह मत्परायण कहते है।

3) फिर वह पुकारने लगता है कि है नाथ मैं तुन्हें भूलूंगा नही। उस के समस्त कर्म और लक्ष्य परमात्मा के लिए हो जाते है। हम इसे मन्मना भव कहते है।

4) जब परमात्मा की संपूर्ण शरणागति प्राप्त हो जाए तो उस की कामना, आसक्ति और लोभ, मोह का विनाश होने लगता है और वह आत्मशुद्धि की और बढ़ने लगता है। इसे मद्याज भव कहेंगे

5) परमात्मा को सर्वश मानते हुए बार बार उसे नमस्कार करता है, नमस्कार करने का अर्थ है झुकना और हम झुकते उसी की ओर है जिस के प्रति हमारे मन में श्रद्धा, विश्वास और प्रेम हो। यही मार्ग अहम हो भी नष्ट करता है और आत्मविश्वास भी बढ़ाता है।

इस प्रकार इन पांचों बातों से शरणागति पूर्ण हो जाती है। परन्तु इन पांचों में मुख्यता भगवान् का भक्त बनने की ही है। कारण कि जो स्वयं भगवान् का हो जाता है, उसके न मनबुद्धि अपने रहते हैं न पदार्थ और क्रिया अपने रहते हैं और न शरीर अपना रहता है। अतः अनुसूयवे हो कर जो श्रद्धा, प्रेम, विश्वास और समर्पण के साथ परमात्मा का स्मरण करता है, उस का दायित्व भगवान उठाते है। उसे ज्ञान ईश्वर कृपा से स्वतः ही प्राप्त हो जाता है।

परमात्मा को तो वे ही जान सकते हैं, जो परमात्मा से एक हो गये हैं अर्थात् जिन्होंने मैं और मेरापन सर्वथा भगवान् के समर्पित कर दिया है। मैं और मेरापन तो,दूर रहा, मैं और मेरेपन की गन्ध भी अपने में न रहे कि मैं भी कुछ हूँ, मेरा भी कोई सिद्धान्त है, मेरी भी कुछ मान्यता है आदि।जैसे, प्राणी शरीर के साथ अपनी एकता मान लेता है, तो स्वाभाविक ही शरीर का सुखदुःख अपना सुखदुःख दीखता है। फिर उस को शरीर से अलग अपने

अस्तित्व का भान नहीं रहता। ऐसे ही भगवान् के साथ अपनी स्वतःसिद्ध एकताका अनुभव होने पर भक्त का अपना किञ्चिन्मात्र भी अलग अस्तित्व नहीं रहता।

व्यवहार में गीता के प्रथम श्लोक में अर्जुन अहम से भर कर युद्ध भूमि का निरीक्षण करता है तो स्वजनों को देख कर जब मोह ममता में भय भर जाता है तो अपने को सही सिद्ध करने के शास्त्रों के ज्ञान का सहारा लेता है। जिस से वह अपने अनुचित कृत्य को उचित बता सके। एक सफल प्रवक्ता या प्रबंधक या सलाहकार या शुभचिंतक की भांति यदि कर्म से देखे तो भगवान सब से पहले उस के ज्ञान के अहंकार को शास्त्रों की सही विवेचना से नष्ट करते है। फिर उस के मोह और भय को दूर करने के प्रकृति और जीव के कार्य को बताते है। इस श्लोक में आत्मसमर्पण कह कर उस के कंधे पर हाथ रखते है जिस से आत्मविश्वास खो चुके इंसान का विश्वास पुनः जागरण हो कि उस के साथ परमात्मा खड़ा है, उस में युद्ध के भगवान का चयन वास्तव में सही ही किया था, वह आत्मविश्वास से खड़ा हो सकता है। यही कुशलता एक कुशल रणनीतिकार या घर, समाज या व्यापार के प्रबंधक की होती है जो अपने अधीनस्थ कर्मचारियों में उन के निर्देश के अनुसार काम करने पर सफलता की गारंटी देते है। गीता के इस श्लोक का अत्यंत महत्व है किंतु कुछ ही लोग इसे समझ पाते है। यहां से अर्जुन मोह, ममता, भय नष्ट हो गई है और आत्मविश्वास लौट आया इसलिए आगे के अध्याय में एक जिज्ञासु की भांति वह अब अपने विश्वास को संबल करने हेतु परमात्मा हो समझने की चेष्टा करता है कि भगवान के स्वरूप में परमात्मा कैसे होगा। किसी को ज्ञान तभी दिया जाना चाहिए जब वह मानसिक अवसाद से दूर हो कर, मन और बुद्धि से समझने को तैयार हो जाए। अतः आगे के अध्याय ज्ञान पर आधारित ब्रह्म, प्रकृति और जीव के ज्ञान के है। जो मनुष्य पूर्वाग्रह से ग्रसित होते है, वे प्रायः इन अध्यायों को समझ नही पाते।

भक्ति के मार्ग में अपने कर्म के त्याग की कोई बात नही कही गई, इसे ध्यान में रखते हुए, अगले अध्याय में भक्तियोग में भगवान की विभिन्न विभूतियों को विभूतियोग अध्याय में पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।।9.34।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ अध्याय: ९ सारांश॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुनसंवादे राजविद्यायोगो नाम नवमोऽध्यायः॥

||ōṃ tatsaditi śrīmadbhagavadgītāsūpaniṣatsu brahmavidyāyāṃ yōgaśāstrē śrīkṛṣṇārjunasaṃvādē rājavidyārājaguhyayōgō nāma navamō'dhyāyaḥ||

भावार्थ:

इस प्रकार उपनिषद, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद् भगवद् गीता के श्रीकृष्ण- अर्जुन संवाद में 'राजविद्या- योग' नाम का नौवाँ अध्याय संपूर्ण हुआ ॥

Meaning:

Thus ends the ninth chapter named Rajavidya rajaguhya yōga in Srimad - Bhagavad Gītā, which is the essence of the Upaniṣads, which deals with Brahman- knowledge as well as the preparatory disciplines, and which is in the form of a dialogue between Lord Krishna and Arjun

॥ हरि: ॐ तत् सत् ॥

Explanation:

Summary of Bhagvad Gita Chapter 9:

In the previous chapter, Shri Krishna described the endless cycle of creation and dissolution of the universe, and how all beings are stuck in that cycle. In this chapter, he began to reveal an extremely profound and secret knowledge to Arjuna that would allow him to escape this endless cycle. That knowledge is devotion or bhakti towards Ishvara. It is the easiest means of obtaining liberation, easier than performing rituals or penance or renouncing the world.

What is this knowledge? Ishvara is the ultimate cause of the universe. Everything is sustained by Ishvara. Everything is in Ishvara, like the wind is in space. We are not able to see Ishvara because our senses are

preconditioned to only perceive names and forms, just like we see a blue sky where there is no real blue colour.

Ishvara becomes the ultimate cause of the universe through his power known as Prakriti. Through this power, he creates the world of names and forms, sustains them and eventually dissolves them.

Prakriti is nothing but the three gunas. It is a fully automatic system that delivers results to individuals based on their actions. Most people are stuck in this system and cannot get out because they are bound by selfish actions, they are too attached. Ishvara is an observer of this system. he does not get bound by Prakriti because he is unattached.

In order to free ourselves from the entrapment in Prakriti, we have to change our conditioning and rid ourselves of all misconceptions regarding Ishvara. The first misconception: Ishvara is finite human entity. The second misconception: I am body, mind, intellect. Third misconception: worship of finite deities will give infinite and permanent results. One by one, each of these misconceptions is clarified.

The easiest way to dispel all these misconceptions is to worship Ishvara, to follow the path of bhakti. There are several ways to bring this into our daily life. We can constantly meditate upon Ishvara as the cause of everything. This is known as “jnyaana yagnya”. We can perform actions in service of Ishvara. We can begin to see Ishvara in objects, people, and situations through pointers. Shri Krishna provides several pointers. For instance, we can learn to see Ishvara in our parents, our grandparents, in the weather cycle and so on.

Next, Shri Krishna describes two kinds of devotees. The sakaama or desire-oriented devotee performs rituals so that he can attain heaven after his death, but ultimately comes back to earth after his merits are exhausted.

The nishkaama or desire-less devotee only wants Ishvara. In an oft-quoted shloka, Shri Krishna says that Ishvara always takes care of desire-less devotees by giving them what they need at the right point in their lives including food, shelter, wealth, knowledge and a teacher.

We also learn that Ishvara does not expect big offerings when we worship him. In fact, he is happy with simple things like water, leaf, fruit or flowers. We can also offer our work and action to him when we serve others. What he wants the most is the feeling of devotion when we make the offering. Ishvara is impartial like the sun and rain and will reward us based on our faith and effort.

The glory of devotion is that it is accessible to everybody, from sinners to people of great worldly attachment all the way to sages. Everyone can worship at any point in their lives. There is no qualification to begin the path of devotion.

Shri Krishna ends this chapter with an actionable message. He says, “Keep your mind in me, become my devotee, erform actions for me, surrender to me.” This is the instruction for devotion towards Ishvara.

सारांश ।।नवम अध्याय।।

राजविद्या राजगुह्य योग नामक इस नवम अध्याय का प्रारम्भ अर्जुन अनसूयु अर्थात अन्तःकरण से द्वेष रहित, श्रद्धावान एवम एकनिष्ठ होने के साथ शुरू किया गया। क्योंकि यह राज विद्या उन्ही को ज्ञान सहित प्रदान की जा सकती है जो अनन्य भाव से भक्ति एवम श्रद्धा रखते हो।

प्रथम दो श्लोको में ज्ञान के महत्व को बता कर इसे राजगुह्य या राजविद्या कहा गया, फिर परमात्मा ने बतलाया कि किस प्रकार वह अकर्ता एवम उदासीन हो कर जड़ से चेतन तक सभी मे एवम सभी कार्य करता है। इस प्रकार परमात्मा की सत्ता स्फूर्ति में प्रकृति चराचर जगत को उत्पन्न करती है और जगत इहलोक से ब्रह्मलोक तक आवागमन चक्र में घूमता रहता है।

इस के पश्चात अर्थार्थी, आप्त, जिज्ञासु एवम ज्ञानी जिस भी भाव एवम कामना से जिस की देवता की पूजा करते है, वह वास्तव में उन्हें ही पूजते है, परमात्मा ही सभी स्वरूप में उन की कामनाओं को पूरी करता हूँ। क्योंकि समस्त प्रगति का मूल अक्षय बीज परमात्मा ही है।

समस्त सृष्टि यज्ञ चक्र, वेद , ज्ञान एवम क्रियाए परमात्मा ही है। इसलिये परमात्मा को किसी से कुछ नही चाहिए क्योंकि देने लेने वाला एक ही है, परमात्मा तो प्रेम का भूखा है, वह तो प्रेम के साथ पत्र, पुष्प और जल से भी संतुष्ट है।

ज्ञान द्वारा मोक्ष को प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्य के लिये संम्भव नही है। क्योंकि इन्द्रिय- मन- बुद्धि को एकत्व भाव मे योग एवम ध्यान से लाना अत्यंत कठिन है। वेद एवम शास्त्रो का ज्ञान प्रत्येक जीव को उस के गुणधर्म के अनुसार प्राप्त नही है। ऐसे में उस का उद्धार कैसे हो, इसलिये संसार के प्रत्येक प्राणी के नवम अध्याय गुह्यतम ज्ञान भक्तिमार्ग का कहा गया जिस का मूल आधार श्रद्धा प्रेम, विश्वास और समर्पण है। यह ज्ञान किसी भी गुणधर्म के जीव के लिये मोक्ष का मार्ग है तो ज्ञानी और उच्च योनि के जीव के लिये तो स्वर्ण के समान है।

दुखः के संयोग का वियोग ही योग है अर्थात जो संसार के संयोग वियोग से सर्वथा रहित है वो ही योग है। परमतत्व परमात्मा के मिलन का नाम ही योग है। परमात्मा सभी मे विद्यमान है, किन्तु परमात्मा में कोई भी विद्यमान नही। इसलिये परमात्मा की प्राप्ति ही योग की पराकाष्ठा है।

इस योग की प्राप्ति के बिना अखिल भूत प्राणी जिस प्रकार प्रकृति के आवगमनरूपी चक्र में अनन्त कल्पोपर्यंत भ्रमण करते रहते है, उस क्रम का वर्णन किया और बतलाया कि कल्प के क्षय हुए भी भूत प्राणी आवागमन से छूट नही सकते, किन्तु कल्प के आदि में फिर उन को वरवश प्रकृति के आधीन उत्पन्न होना पड़ता है। फिर हम ने पढ़ा कि यद्यपि प्रकृति का यह सब व्यवहार परमात्मा की सत्ता स्फूर्ति में ही होता है एवम वो ही इस का संचालन करते है तो भी यह परमात्मा को बंधन कारक नहीं है।

परमात्मा कहते है कि इस संसार का मै रचियता हूँ और यह सब कार्य मेरी ही त्रिगुणमयी प्रकृति माया द्वारा करती है। फिर परमात्मा ने कल्प एवम विसर्ग के बारे में भी बताया।

इस के बाद परमात्मा ने चतुविंध पुरुषो का वर्णन किया जिस में सर्वश्रेष्ठ तत्ववेत्ता ज्ञानी पुरुषों को बताया जो सभी भूतों, सत- असत एवम अमृत मृत्यु रूप में सब रूप में एक

परमात्मा ही है, यह परमगति को प्राप्त होते है, द्वितीय अनन्य भाव से परमात्मा का स्मरण एवम भक्ति करने वाले लोग है, तृतीय में देवी देवताओं को लौकिक सुख के लिये पूजते है फिर उस लोक का सुख भोग कर मृत्यु लोक को प्राप्त होते है और अंत मे मूढ़ लोग जो विषय भोग में लगे हुए है।

अनन्या उपासना के दो मार्ग है जिन्हें ज्ञान मार्ग एवम स्वामी सेवक भाव की उपासना अर्थात भक्ति मार्ग कहते है। त्रिवेद्य लोग जिस भी भावना से, कामना से परमात्मा को पूजते है, परमात्मा उन्हें वही प्रदान करता है।

परमात्मा का कोई स्वरूप नही अतः उस को जो जिस भी भाव से पूजता है , परमात्मा उसे उसी भाव से स्वीकार भी करता है। परमात्मा को अपना सर्वेश मानने वालों का भार भी परमात्मा ही लेता है, इस लिये परमात्मा ने योगक्षेम वहाम्यहम कह कर उस के समस्त भार को स्वीकार भी किया। किन्तु परमात्मा समभाव है, क्योंकि सब तत्व में परमात्मा ही है इसलिये जो प्राणी परमात्मा के जितना निकट रहेगा उस के प्रति परमात्मा की कृपा भी उतने अधिक होगी। परमात्मा भाव का भूखा है, इसलिये श्रद्धा, विश्वास एवम प्रेम से फूल, पत्ती, फल आदि जो भी स्मरण एवम समर्पण करते हुए देता है , परमात्मा उसे स्वीकार करता है, उसे स्वर्ण या अधिक मूल्यवान वस्तुओं से रिझाया नही जा सकता।

ज्ञान योग एक जटिल एवम बुद्धिगम्य मार्ग है, अतः दुराचारी, पापयोनि, श्रुति एवम स्मार्त से वंचित स्त्री, वैश्य, शुद्र आदि के लिये सरल मार्ग भक्ति ही है। परमात्मा सम भाव है, जब वो ही हर जीव, प्राणी, अपरा एवम परा प्रकृति में है, जो समस्त जगत का संचालन अपनी प्रकृति के माया द्वारा करता है तो वो ही हर प्राणी के परमगति का मार्ग भी बताता है। इसलिये परमात्मा कहता है कि तू सब धर्म, क्रिया, कामना, अहम छोड़ कर उस अकेले की शरण मे आ जावो, वह तुम्हारे सभी पापो को क्षमा कर के मुक्त कर देगा। अनन्य भक्त एक बार परमात्मा की शरण के आने के बाद विषम से विषम परिस्थिति में भी अडिग विश्वास के साथ बिना घबराए रहता है।

शांतिपर्व के उच्छवृति उपाख्यान में भी यह प्रश्न है कि ग्रहस्थ्यधर्म, वानप्रस्थ धर्म, राजधर्म, मातृ- पितृ सेवा धर्म, क्षत्रियों का रणांगण में मरण धर्म, ब्राह्मणों का स्वाध्याय, अहिंसा, सत्य, व्रत उपवास, ज्ञान, यज्ञ, याग, दान ,कर्म सन्यास अनेक मुक्ति के मार्ग एवम धर्मो में ग्राह्य धर्म कौन है। इन सब मे प्राणी का अंतिम साध्य साम्य बुद्धि रखना है जो बिना मन को एकाग्र किये प्राप्त नही किया जा सकता। साम्य बुद्धि एवम मन की एकाग्रता के लिये

श्रद्धा, विश्वास और निश्छल प्रेम के अतिरिक्त कोई साधन नही है, परमात्मा भाव का भूखा है, उस की शरण की अनन्य भक्ति, श्रद्धा एवम विश्वास के साथ ही प्राप्त करना एक मात्र धर्म है। जिस से एकाग्र मन से निष्काम हो कर कर्म करते हुए मोक्ष को प्राप्त करे।

भगवान का कथन की जीव मेरा ही अंश है और मैं ही एक अंश से सारे जगत में व्याप्त हूँ। अंश कोई हिस्सा या भाग नही है, वरन आकाश और घड़े के आकाश के समान है। बुद्धि और भाव के अंतर के कारण जीव परमात्मा के व्यक्त एवम अव्यक्त स्वरूप को नही समझ पाता। ज्ञान बुद्धि से व्यक्त स्वरूप के परमात्मा पर वाह वाह करने और विभिन्न सभाये आयोजित कर के विचार मंथन करने से जो कुछ अर्जित होता है, वह सांसारिक और अनित्य है। परमात्मा के जो भी सिंद्धात बताये गए है और जो हम आगे पढ़ेंगे की परमात्मा के सारे नाम रूपात्मक व्यक्त स्वरूप केवल मायिक और अनित्य है, इन की अपेक्षा उनका व्यक्त स्वरूप श्रेष्ठ है। यह सारे सिंद्धांत बुद्धि में आ जावे, मन मे प्रतिबिबिम्त हो जाय, ह्रदय में जम जाए और नस नस में समा जावे, इतना होने पर परमेश्वर के स्वरूप की इस प्रकार पूरी पहचान हो जावे की एक ही परब्रह्म सब प्राणियों के व्याप्त है। यही मत्परायण हो कर परमात्मा की शरण जाने के समान है। इस के लिये व्यावसायिक बुद्धि, वासनात्मक बुद्धि एवं आचरण के शुद्ध होने की आवश्यकता है। इस श्रेणी में नवम अघ्याय में परमात्मा के स्वरूप को हम में पढ़ा कि परमात्मा सर्वव्याप्त किसी भी स्वांग, ढोंग एवम भव्यता से परे सिर्फ और सिर्फ प्रेम, श्रद्धा, विश्वास और समर्पण से किसी जीव द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, उसे पत्र, पुष्प से पूजा जा सकता है। मोक्ष के लिये कोई भी उसे स्मरण कर सकता है। यही भूमिका उस के विभूति स्वरूप को समझने में सहायक होगी।

व्यवहार में जब कोई व्यक्ति यह जान ले कि उस की रक्षा करने वाला एवम उस को मार्ग दिखाने वाला कोई है, तो उस की असफलता या मृत्यु का भय खत्म हो जाता है। यह आश्वासन जब परब्रह्म स्वयं देते है कि तू श्रद्धा, विश्वास और प्रेम से कर्म कर, मैं तेरा योगक्षेम वहाम्यहम करूँगा, तो जीव की कार्य क्षमता बढ़ जाती है। अतः जब भी दुविधा या संकट लगता है, हमारा परमात्मा के प्रति विश्वास ही काम आता है।

तुकाराम राम जी कहते है " चतुराई चेतना सभी चूल्हे में जावे, बस मेरा मन एक ईश चरणाश्रय पावे। आग लगे आचार विचारों के उपचय में, उस विभु का विश्वास सदा दृढ़ रहे ह्रदय में।।"

भागवत गीता के नवम अध्याय में भक्ति रूप में दृढ़ निश्चय के गौता लगाने के बाद, अब अगले अध्याय में हम परमात्मा की विभिन्न विभूतियों का वर्णन " विभूतियोग" नामक दसवें अध्याय में पढेंगे।

।। हरि ॐ तत सत।। अध्याय 9।।

==========